गगनाञ्चल

वर्ष 19 अंक 2 अप्रैल-जून 1996

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

प्रकाशक

मीरा शंकर

महानिदेशक

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली

संपादक

कन्हैयालाल नन्दन

सहयोगी संपादक

प्रेम जनमेजय, अजय गुप्ता

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से 1950 में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त त्रैमासिक पत्रिकाएं भी प्रकाशित करती है जो हिंदी (गगनाञ्चल), अंग्रेजी (इंडियन-होराइजन्स, अफ्रीका क्वार्टरली), अरबी (सक़ाफ़त-उल-हिंद), स्पेनिश (पपेलस-दे-ला-इंडिया) और फ्रेंच (रेकौंत्र अवेकलैंद) भाषाओं में हैं। प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक 'गगनाञ्चल' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए :

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् ,
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ इस्टेट, नयी दिल्ली-110002

 'गगनाञ्चल' में व्यक्त किये गये मत संबद्ध लेखकों के होते हैं और आवश्यक रूप से परिषद् की नीति को प्रकट नहीं करते।

शुल्क दरें

एक अंक	*वार्षिक*	*त्रैवार्षिक*
रु. 25.00	रु. 100.00	रु. 250.00
US$10.00	US$40.00	US$100.00
£4.00	£16.00	£40.00

ISSN 0971 - 1430

मुद्रक : विमल ऑफसेट, 1/11804, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

प्रकाशक की ओर से

*गगनाञ्चल के संस्मरण अंक तथा विश्व हिंदी अंक को हिंदी जगत ने सराहा, यह हमारे लिए पर्याप्त संतोष का विषय है। हमारा निरन्तर प्रयत्न रहता है कि **गगनाञ्चल** के माध्यम से हम ऐसी सामग्री दें जो पाठकों की साहित्यिक भूख को तो शांत करे ही, साथ ही हिंदी साहित्य के विशाल इतिहास में एक सार्थक कड़ी के रूप में संलग्न हो। **गगनाञ्चल** का प्रयास विभिन्न भारतीय भाषाओं में रचे जा रहे रचनात्मक साहित्य को भी पाठकों के समक्ष लाना है, इस प्रक्रिया में श्रेष्ठ अनूदित रचनाओं से पाठकों का साक्षात्कार कराते रहेंगे।*

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् और न्यू एज इंटरनेशनल ने चेक गणराज्य के राष्ट्रपति वात्सलाव हावेल के विचारों का संग्रह 'सत्य की खोज' के नाम से प्रकाशित किया है। हावेल चेक देश के अग्रणी नाटककार, निबंधकार, चिंतक और राजनेता हैं। लेखक के रूप में उनका कहना है—"मैं केवल वही करना चाहता हूं जो प्रत्येक लेखक को करना चाहिए, सच कहना।" हावेल ने अपने इस एक वाक्य में बहुत बड़ी बात कह दी है। हमारे आधुनिक विश्व की सबसे बड़ी समस्या यही है कि हम सच्चाई से भागते हैं। जीवन की सही व्याख्या सत्य के कदमों की स्थिरता है। एक दृढ़ विश्वास के साथ यदि हम इस मार्ग पर चलते रहें तो किसी एक राष्ट्र का लाभ नहीं होगा अपितु इससे संपूर्ण मानवता लाभान्वित होगी। साहित्य तो है ही सत्य की तलाश का दूसरा नाम। राष्ट्रीयता, जातीयता और धर्म से परे जब हम वृहद् सत्य के बारे में सोचते हैं तो एक विशाल रचनात्मक विश्व के सृजन की ओर उन्मुख होते हैं। मानवीय गरिमा और मानवता के समुचित विकास के लिए यह आवश्यक भी है। सत्य की इस खोज के लिए साहित्य शब्दों का रचना-संसार निर्मित करता है। परंतु कभी-कभी यह शब्द विपरीत भूमिका भी अदा करते हैं। ऐसे शब्द विध्वंस का ऐसा खतरनाक हथियार रचते हैं जो पूरी मानवता को नष्ट कर देते हैं।

हावेल ने ऐसे शब्दों से सावधान करते हुए लिखा है—"समाज को चेतनारूप और जागृत करने वाले शब्दों के साथ हमारे सामने ऐसे शब्द हैं, जो सम्मोहित करते हैं, धोखा देते हैं, भड़काते हैं, पागल बनाते हैं, भुलावा देते हैं। शब्द जो नुकसानदेह हैं—यहां तक प्राणघातक हैं। शब्द जो तीर का काम करते हैं।"

वात्सलाव हावेल की प्रस्तुत पुस्तक विचारोत्तेजक तथा प्रेरणादायक है। प्रस्तुत अंक में विस्तार से इस पुस्तक का परिचय दिया गया है। 'सत्य की खोज' में संलग्न सभी प्राणियों के लिए यह एक जरूरी किताब है।

मीरा शंकर

(मीरा शंकर)
महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
नई दिल्ली

संपादक की ओर से

हिंदी साहित्य में इधर एक चुप्पी का अनुभव होने लगा है। साहित्यिक हलचल जैसे बहुत धीमी गति से कदम बढ़ा रही है। संगोष्ठी-गोष्ठी आयोजित तो की जाती हैं परंतु उनमें ऐसी साहित्यिक बहसें नहीं होती हैं जो साठ और सत्तर के दशक में होती थीं। हिंदी का साहित्यिक माहौल कुछ ठंडा-सा पड़ गया है। गोष्ठियों का दायरा भी सीमित होता जा रहा है। कई बार लगता है जैसे बातचीत एकपक्षीय होकर रह गयी है। साठ और सत्तर के दशक में पत्रिकाओं की और विशेषकर लघु-पत्रिकाओं की, बहस को ताजादम करने में जो भूमिका रहती थी, वह जैसे गायब हो गयी है। आपके पत्रों को पढ़कर मुझे इस बात की प्रसन्नता होती है कि *गगनाञ्चल* से इस प्रकार की अपेक्षा होने लगी है। *गगनाञ्चल* सात समन्दर पार हिंदी के साहित्य-प्रेमियों की साहित्यिक भूख ही शांत नहीं कर रहा, साथ ही देश में एक साहित्यिक माहौल भी तैयार कर रहा है। संस्मरण के दोनों अंकों तथा विश्व हिंदी सम्मेलन के अंक को ऐतिहासिक एवं संग्रहणीय घोषित करके *गगनाञ्चल* के पाठकों ने हमारा जो उत्साह बढ़ाया है उसने हमें पर्याप्त ऊर्जा दी है। यह आपके उत्साहवर्धन का ही परिणाम है कि हम *गगनाञ्चल* के माध्यम से निरन्तर इस प्रयास में जुटे हुए हैं जिससे एक स्वस्थ बहसोन्मुख साहित्यिक तथा सांस्कृतिक माहौल तैयार किया जा सके। इसमें आप जैसे जागरूक पाठकों की हमें निरंतर आवश्यकता है। आपकी वैचारिक टिप्पणियों को समस्त *गगनाञ्चल* परिवार तक पहुंचाने के लिए इस अंक से 'पाठकों की ओर से' स्तम्भ आरंभ किया जा रहा है। लंबे लेखों को प्रकाशित करना तो हमारे लिए संभव नहीं है परन्तु चावल के कुछ दाने अवश्य प्रस्तुत होते रहेंगे।

गगनाञ्चल के स्वरूप को निरन्तर नवीनता एवं गतिशीलता देने में आरंभ से व्यंग्य-लेखक प्रेम जनमेजय और कर्मठ हिंदी सेवी अजय गुप्ता का सहयोग मिल रहा है। इनका अप्रतिम सहयोग मेरी ऊर्जा है और आप लोगों के पत्र मेरी शक्ति को बढ़ाते हैं।

(कन्हैयालाल नंदन)
संपादक

पाठकों की ओर से

... गगनाञ्चल के संस्मरण अंक के दोनों अंक मिले। प्रथम दृष्टि में बहुत प्रभावशाली लगे। सामग्री का चयन बहुत अच्छा हुआ है। गहरी आत्मीयता के साथ-साथ दृष्टि की विविधता भी है।

जहां तक मुझे याद है, सबसे पहले 'हंस' ने संस्मरण अंक निकाला था। संभवतः 1940 की बात है। हिंदी में तब तक इस विधा को गंभीरता से नहीं लिया गया था। इसके बाद धीरे-धीरे यह विधा पनपी। आपने यह दो अंक निकालकर फिर हिंदी जगत का ध्यान इस ओर खींचा। ... गगनाञ्चल ने पहले भी कई अच्छे विशेषांक निकाले हैं, और मुझे आशा है आगे भी निकलते रहेंगे।

मैं जानता हूं संस्मरण लिखना बहुत कठिन कार्य है, उस पर किसी जीवित व्यक्ति के साथ संस्मरण बड़ी दुविधा में डाल देते हैं। पश्चिम की तरह हम अपने से ही अपने को मुक्त नहीं कर पाते। व्यक्ति को समग्रता में देखना बहुत आवश्यक है। और उसके लिए लेखक को जैसा मैंने कहा, अपने आपको अपने से मुक्त करना होगा। कोई भी व्यक्ति नितान्त अच्छा या नितान्त बुरा नहीं होता। उसको ठीक से पहचानना ही सही दृष्टि है।

एक बार फिर आप सबको मेरी बहुत-बहुत हार्दिक बधाई!

विष्णु प्रभाकर, दिल्ली

गगनाञ्चल हिंदी जगत की मान्य, विशिष्ट पत्रिका है। उसके ये अंक (संस्मरण—एक और दो तथा विश्व हिंदी अंक) उसकी परंपरा को दीप्ति प्रदान करते हैं। ये तीनों अंक जहां एक ओर संपादन कौशल का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं, वहीं उसका सुरुचिपूर्ण प्रकाशन इसके प्रति आपके समर्पित स्नेह एवं निष्ठा और प्रतिबद्धता का प्रमाण है। इस गौरवशाली प्रकाशन के लिए मेरी मंगलकामनाएं और बधाई स्वीकार करें।

मैं यह चाहूंगा कि यह पत्रिका यदि भारतीय संस्कृति के विभिन्न विषयों को उजागर कर सके और भारतीय ज्ञान-विज्ञान, इतिहास और पुरातत्व के संबंध में भी विचारपूर्ण ज्ञानवर्द्धक सामग्री का प्रकाशन करे, तो हिंदी का हितचिंतन होगा।

सुधाकर पांडेय, नई दिल्ली

गगनाञ्चल का वर्ष 18 अंक-3 आज मिला। बावजूद इसके कि अधिकांश संस्मरण

मरणोपजीवी हैं—मेरा भी—उनमें अभूतपूर्व विविधता है। अगर संस्मरण अंक दो भी निकल गया हो तो उसकी प्रति मुझे कृपया भिजवा दें।

श्रीलाल शुक्ल, लखनऊ

कल की डाक में गगनाञ्चल का संस्मरण अंकः एक मिला। हृदय से आभारी हूं। मुझ नाचीज का संस्मरण शामिल करने के लिए किन शब्दों में धन्यवाद दूं ...

कविता व हास्य-व्यंग्य का विशेषांक जब भी निकले, सूचित करें। मैं जरूर कुछ भेजना चाहूंगा।

रवीन्द्रनाथ त्यागी, देहरादून

अद्भुत अंक है भई। हाथ में लिया तो छोड़ने का मन ही न हुआ। पढ़ रहा हूं। गगनाञ्चल के आगामी अंकों की उत्सुकता से प्रतीक्षा है। मैं वार्षिक सदस्यता-शुल्क भेज रहा हूं।

प्रो. प्रेमशंकर रघुवंशी, हरदा

आपके संपादन में गगनाञ्चल निश्चित ही अपनी लोकप्रियता बढ़ाएगा। दिनकर जी, स्नातक जी, ऋता शुक्ल, अशोक वाजपेयी, रमानाथ अवस्थी की रचनाएं आपके साहित्य की समग्रता को उदात्तता में व्यक्त करती हैं।

डॉ. श्यामसुंदर दुबे, हटा

गगनाञ्चल में श्रद्धेय भवानीप्रसाद मिश्र एवं गिरिजाकुमार माथुर का स्वर्ण-पारस मैंने वर्षों महसूस किया है। इन लोगों ने मुझ जैसे काहिल से भी पर्याप्त कार्य ले लिये। उसी यशस्वी परम्परा में आप भी हैं।

श्रीकांत जोशी, खंडवा

गगनाञ्चल के दोनों संस्मरण अंक अत्यंत उपयोगी बन पड़े हैं। इस हेतु मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

'गगनाञ्चल' के संबंध में मेरा एक सुझाव था। देश से बाहर अनेक रचनाकार हिंदी में रचनाएं कर रहे हैं। मैं समझता हूं कि यदि 'गगनाञ्चल' का 'प्रवासी भारतीय' अंक निकाला जा सके, तो वह अत्यंत उपयोगी होगा। इससे जहां प्रवासी भारतीय रचनाकार उत्साहित हो सकेंगे, वहीं हम भारतवासी भी उनकी रचनात्मकता से परिचित हो सकेंगे।

डॉ. विजय अग्रवाल
राष्ट्रपति के निजी सचिव

अनुक्रम

नाटक

कविताएं

अध्यात्म

समीक्षा

गतिविधियां

सारस्वत सभ्यता बनाम सिन्धु-सभ्यता

डॉ. वेदज्ञ आर्य

एक यात्रा, आदि बद्री से लेकर शिवालिक पर्वतमाला से होती, संपूर्ण कुरुक्षेत्र, राजस्थान, कच्छ, अम्बादेवी, सोमनाथ के मंदिर में लगभग तीन हजार किलोमीटर तय करके समाप्त हुई। इस यात्रा के यात्री प्रख्यात संस्कृत विद्वान डॉ. वेदज्ञ आर्य ने भारतीय संस्कृति के प्राचीन स्वरूप को अपने दृष्टिकोण से विश्लेषित किया है। सरस्वती नदी के प्रवाह मार्ग का दिग्दर्शन कराते हुए उसे भारतीय संस्कृति की धारा से जोड़ा है।

स्वामी विवेकादानंद जी का कथन है : "सत्य समाज का सम्मान नहीं करता, चाहे वह प्राचीन समाज हो या आधुनिक। समाज को ही सत्य का सम्मान करना पड़ेगा, अन्यथा समाज नष्ट हो जाएगा। समाज को सत्य के अनुरूप ढालना चाहिए, सत्य को समाज के अनुसार अपने आपको ढालना नहीं पड़ता।"

विद्वत्समाज से यही आशा की जाती है कि वह सारस्वत सभ्यता एवं सिंधु-सभ्यता के मूल में जो ऐतिहासिक तथा पुरातात्विक तथ्य उपलब्ध हुए हैं उनकी सत्यता एवं वास्तविकता को स्वीकार करके स्वामी जी के शब्दों में सत्य का सम्मान करें। एक बात ध्यातव्य है कि वास्तविकता प्रत्यक्ष दृष्ट पदार्थ से भिन्न होती है। महाभारतकार ने कहा है कि आकाश तल-युक्त दिखाई पड़ता है और जुगनू में रोशनी, किंतु न तो आकाश का तल होता है और न ही जुगनू में प्रकाश, इसलिए प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु की भी परीक्षा करनी उचित है :

सिन्धु-सभ्यता

आज से पचहत्तर वर्ष पूर्व अविभाजित पंजाब प्रांत में मौंटगुमरी जिले में हजारों वर्षों से सुषुप्त हड़प्पा नगरी के उत्खनन से और उसके अगले वर्ष ही वहां से लगभग पांच सौ किलोमीटर दूर सिन्धु-क्षेत्र के लरकाना जिले में मोहनजोदड़ो अर्थात् मृत व्यक्तियों के टीले के उत्खनन से भारतीय इतिहास के अंधकाराच्छन्न गगन-मंडल में एक प्रखर विद्युत-रेखा खिंच गई। सर्वप्रथम इन स्थानों के सर्वेक्षण एवं उत्खनन का सूत्रपात करने वाले महानुभाव पुरातत्त्वविद् दयाराम साहनी एवं राखाल दास बेनर्जी को अपूर्व श्रेय प्राप्त है। उपयुर्क्त दोनों स्थानों का विस्तृत उत्खनन पुरातत्त्व-विभाग के तत्कालीन महानिदेशक सर जॉन मार्शल के निरीक्षण में संपन्न होता रहा। देश-विभाजन के बाद ये दोनों उत्खनित स्थान पाकिस्तान में हैं। इनके उत्खनन से एक विकसित एवं समृद्ध नगर-सभ्यता उजागर हुई। इससे भारत की सभ्यता को विश्व के प्राचीनतम देश मेसोपोटामिया और मिस्र की समुन्नत सभ्यताओं के सन्निकट या समकक्ष होने की मान्यता प्राप्त हुई। इसे मुख्य रूप से 'सिन्धु-घाटी की सभ्यता' या 'सिन्धु-सभ्यता' का नाम दिया गया है। हड़प्पा का उत्खनन सबसे पहले आरंभ हुआ और उसकी नगर-संरचना मोहनजोदड़ो के समान ही थी। उसकी पकी हुई मजबूत ईटों को अनेकानेक वर्षों तक आस-पास के गांव वालों ने अनजाने ही खोद-खोद कर अपने मकान बनवा लिए। अतः उसके लगभग पांच किलोमीटर के घेरे में स्थित टीले का उत्खनन कई स्तरों में होता रहा।

मोहनजोदड़ो टीले का घेरा भी लगभग उतना ही था, जितना हड़प्पा का। किंतु उसके नीचे दबे हुए किसी नगर का नाम अवगत नहीं हो सका। वह मात्र मृतकों का टीला था। सिंधु-घाटी एवं बलूचिस्तान के लंबे क्षेत्र में कई पुरातात्त्विक उत्खनन संपन्न हुए, जिनमें चिन्हुदाड़ो, मंडीगाक, नाल, किलीगुल, कुल्ली, दंबसदात आदि प्रसिद्ध हैं। भारत में हड़प्पा-संस्कृति से संबंधित लगभग छह सौ से अधिक स्थानों पर सफल खुदाइयां हुई हैं। इन स्थलों का विस्तार जम्मू-पंजाब से लेकर हरियाणा, दिल्ली, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, बिहार राजस्थान, गुजरात और मध्य प्रदेश तक लगभग 13 लाख किलोमीटर क्षेत्रफल में उपलब्ध है। आश्चर्य है कि एक विशाल एवं विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त हड़प्पा-संस्कृति की उपेक्षा करके पाश्चात्य एवं अधिकांश भारतीय पुरातत्त्वविदों तथा इतिहासकारों ने मोहनजोदड़ो में उपलब्ध भग्नावशेष सामग्री के आधार पर हमारी प्राचीन सभ्यता को INDUS VALLEY CIVILIZATION अथवा 'सिंधु-सभ्यता' का नाम दिया है, जो समुचित प्रतीत नहीं होता। इस नाम से लिखित इतिहास की पुस्तकों को माध्यमिक विद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालयों तक पाठ्यक्रम के अंतर्गत इस प्रकार पढ़ाया जाता है कि करोड़ों विद्यार्थियों के मन एवं मस्तिष्क पर एक कुत्सित और विकृत सभ्यता का चित्र अंकित हो जाता है। निम्नलिखित वाक्यांशों

में इसके कुछ अवतरण अवलोकनीय हैं :

"आर्य-जाति के लोग मध्य एशिया से घुमक्कड़ों और आक्रांताओं के रूप में सिंधु घाटी में आये। द्रविड़-सभ्यता के शांतिप्रिय मूल निवासियों का कत्लेआम (MASSACRE) करने एवं उन्हें दक्षिण-दिशा की ओर खदेड़ने में सफल हो गए। आर्यों की यज्ञानुष्ठान संस्कृति हिंसा-प्रधान संस्कृति थी। उनका सारा समय अपने रेवड़ों के साथ चरागाहों की खोज में घूमते फिरना, लड़ना-भिड़ना, मूल निवासियों के खेत, अनाज, गोधन, स्त्रीधन को लूटना और बस्तियों में नृशंसतापूर्वक आग लगाने में व्यतीत होता था।"

वस्तुतः मोहनजोदड़ो के उत्खनन में कुल मिलाकर 27 अस्थिपंजर पाए गए, जिन में कुछ पूर्ण कंकाल के रूप में, कुछ सिकुड़ी हुई अवस्था में और कुछ अधूरे-खंडित भागों में थे। ये सारे ही नगर के निचले भाग में अलग-अलग कमरों में पाए गए। नगरकोट के भाग में, जहां युद्ध होने की संभावना हो सकती थी, कोई कंकाल प्राप्त नहीं हुआ। हरग्रीव नामक अंग्रेज ने दैनिक उत्खनन का विवरण अपनी डायरी में अंकित करते हुए लिखा है कि 14 अस्थिपंजर तो किसी प्राकृतिक त्रासदी से संबंधित हैं और परस्पर गुंथे हुए कंकाल मृत्यु की पीड़ा के परिणाम हो सकते हैं जो एक ही कमरे में फेंके गये। इसके बावजूद यूनेस्को द्वारा निर्मित विश्व-इतिहास में सिंधु-सभ्यता के अंत को आर्यों के आक्रमण के साथ जोड़ा गया है। यह एक भयंकर दुरभिसन्धिपूर्ण सुनियोजित आरोप है, जिसके सूत्रधारों में सर जॉन मार्शल, मार्टिमर ह्वीलर, पिगट एवं बाशम के नाम मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। इसलिए सिंधु-सभ्यता के नाम से संपूर्ण भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता पर यह एक कलंकपूर्ण अभियोग है। इसकी तुलना में हड़प्पीय स्थानों के व्यापक उत्खननों में एक भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ, जिसमें आर्यजाति ने किसी अन्य जाति पर आक्रमण किया हो। यह ध्यातव्य है कि 'आर्य' शब्द किसी जाति-विशेष का द्योतक न होकर श्रेष्ठता का परिचायक है।

हड़प्पा-संस्कृति

सिन्धु-सभ्यता की तुलना में हड़प्पा-संस्कृति का महत्त्व ही कुछ और है। ऋग्वेद में हड़प्पा से संबंधित नगरी का उल्लेख है। उसके अन्यतम मंत्रानुसार इंद्र से हरियूपीया नामक नगरी में चायमान के पुत्र अभ्यावर्ती को युद्ध की शिक्षा एवं संपदा प्रदान करते वरशिख नामक असुर के पुत्रों का वध किया। उस नगरी के पूर्व भाग में उसके वृचीवान् नामक पुत्र को मार डाला और उसका दूसरा पुत्र भय से स्वयं विदीर्ण हो गया।

हरियूपीया नगरी किस प्रकार विनष्ट हो गई, इसका संकेत भी ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद का दशराज-युद्ध बहुत चर्चित और विख्यात है। सुदास ने दस विरोधी राजाओं को युद्ध में परास्त किया। उनमें चायमान का पुत्र अभ्यावर्ती कवि भी था। पराभव से पीड़ित

कवि चायमान ने दुःसाहसपूर्वक परुष्णी अर्थात् रावी नदी के बांध को तोड़ दिया, जिससे वह स्वयं जलप्रवाह में निरीह पशु-सदृश बह गया :

> दुराध्यो अदितिं स्रेवयन्तोऽचेतसो वि जगृभे परुष्णीम्।
> मह्नाविव्यक् पृथिवीं पत्यमानः पशुष्कविरशयच्चायमानः ।।
> ऋग्वेद 7,18,8

हरियूपीया नगरी की भूमि पर दस राजाओं के साथ सुदास का युद्ध महाभारत के युद्ध का स्मरण दिलाता है। उसकी विकसित सभ्यता और समृद्धि का विनाश उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार महाभारत के युद्ध से कुरुराज्य की समृद्धि तथा कुरुक्षेत्र की पावनता। यही है हड़प्पा संस्कृति के विकास एवं विध्वंस की कहानी।

सारस्वत सभ्यता

भारतीय संस्कृति एवं सामान्य जनजीवन में सरस्वती नदी की अत्यंत महत्त्वपूर्ण और प्रेरणादायक भूमिका रही है। वैदिक और पौराणिक साहित्य में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह स्वीकार किया जाता है कि इस विशाल देश की संस्कृति और सभ्यता सरस्वती नदी के पावन तट पर अंकुरित और पल्लवित हुई है। मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने जिन जीवन-पद्धतियों एवं मूल्यात्मक मान्यताओं का निरूपण किया है उन्हें वैदिक संस्कृति अथवा सारस्वत सभ्यता के नाम से अभिहित किया जाता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद के मंत्रों का संकलन तथा सामवेद का सस्वर गायन इसी नदी की उर्वर भूमि पर संपन्न हुआ है। ऋग्वेद के अन्यतम मंत्र में गृत्समद, भार्गव और शौनक ऋषियों ने एक स्वर में सरस्वती नदी को मातृ शक्तियों में सर्वश्रेष्ठ माता, नदियों में उत्कृष्टतम नदी और देवियों में सर्वाधिक पूजनीय देवी के रूप में निर्दिष्ट किया है।

महर्षि वसिष्ठ ने अन्यतम ऋचा में कहा है कि सारस्वत नदी चिरकाल से अपने स्वच्छ जल-प्रवाह के रूप में यश का धवल पट बुनती चली आ रही है। वह छह नदियों की माता सप्तमी नदी है। उसकी सुंदर सलिल धाराएं धरती को सींचकर कृषकों के लिए उर्वर बनाती हैं और वह अपने ही प्रचुर जल से भरपूर और विशाल पाटवाली नदी है।

"आ यत् साकं यशसो वावशानाः सरस्वती सप्तमी सिंधुमाता।"

इस महानदी को छह नदियों की माता होने का गौरव प्राप्त था। इन छह नदियों के संबंध में अधिकांश विद्वानों का यही मत है कि पंजाब में प्रवाहित होने वाली पांच नदियां—सतलुज, रावी, चिनाब, झेलम और व्यास हैं। छठी नदी सिंधु है, जिसके तट पर प्राचीन सिंधु-सभ्यता का विकास हुआ था। सातवीं नदी स्वयं सरस्वती है। इसका जल-प्रवाह

इतना तीव्र और प्रबल होता था कि पर्वतों की चोटियों को फूल की पंखुड़ियों के समान तोड़कर बहा देता था। इस प्रकार के सरस्वती-नदी-संबंधी वर्णन ऋग्वेद के सत्तासी मंत्रों में उपलब्ध होते हैं, जबकि गंगा का उल्लेख केवल एक मंत्र में हुआ है। अधिकांश भारतीय तथा विदेशी इतिहासकार एवं पुरातत्त्ववेत्ता सिन्धु घाटी की सभ्यता को ही प्राचीनतम मानते हैं, परंतु सारस्वत सभ्यता उससे भी कई हजार वर्ष पूर्व की सभ्यता मानी गई है। अथर्ववेद के एक मंत्र के अनुसार देवताओं के सम्राट शतक्रतु इंद्र ने सरस्वती नदी की रमणीय तटभूमि पर हल चलाकर मधुर यवों की खेती की। देवता, मरुद्गण और दानवों ने किसानों के रूप में कृषि-कर्म का अनुष्ठान किया। एक प्रकार से यह सारस्वत सभ्यता के अंतर्गत सामूहिक या समन्वित कृषि-कार्य का सूत्रपात ही था।

वस्तुतः भारत की नदीतमा सरस्वती ने अति प्राचीन काल से ही मानव जाति के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन किया और अनेकानेक नगरों व ग्रामों को आल्पावित किया। परंतु भौगोलिक परिवर्तनों के कारण, शिवालिक एवं हिमालय पर्वतों के निरंतर ऊपर उठते रहने से और भू-पृष्ठ के बदलते रहने से महानदी सरस्वती धीरे-धीरे लुप्त हो गई। कभी इसमें समाविष्ट होने वाली शतद्रु और यमुना स्वतंत्र मार्गों पर बहने लगीं। इतना ही नहीं, सरस्वती के समान ही जिस दृशद्वती नदी का बार-बार वर्णन हुआ है और जो कुरुक्षेत्र तथा राजस्थान में समानांतर रूप में बहती रही उसने भी सरस्वती के क्षीण प्रवाह को अपने में समाहित कर लिया। वह वही दृशद्वती है जिसे मध्य-युग में पत्थरों वाली नदी और वर्तमान में घग्घर कहा जाता है। इस प्रकार जल-प्रवाह के खंडित एवं विभक्त हो जाने से सरस्वती नदी अपनी विराटता को खोती रही। वैदिक युग में वह अत्यंत समृद्ध एवं ओजस्विनी प्रवाहमयी रही है। महाभारत काल में वह दृश्या और अदृश्या बनी रही और पौराणिक युग में वह लुप्त एवं अंतःसलिला बन गई।

सरस्वती नदी के लुप्त होने के कारणों को तथा उसके प्रवाह मार्ग को ढूंढ़ने के लिए दो सौ वर्षों से देश-विदेश के इतिहासकारों, पुरातत्त्ववेत्ताओं, भूगर्भशास्त्रियों, नृतत्त्वशास्त्रियों एवं साहित्यकारों का प्रयास जारी है। इसी अनुक्रम में सन् 1985 के नवम्बर में श्री बाबा साहब आप्टे स्मारक समिति की ओर से भारतीय इतिहास संकलन-योजना के अंतर्गत सरकारी अनुदान के बिना ही एक स्वतंत्र 'वैदिक सरस्वती नदी शोध अभियान' दल गठित हुआ। इस दल के अभिनायक स्वर्गीय श्री विष्णु श्रीधर वाकणकर थे। इनके नितांत सान्निध्य में तथा अभियान दल के शोध-कार्य में आरंभ से अंत तक रहने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ। इस दल ने शिवालिक पर्वतमाला में स्थित आदिबद्री से लेकर पश्चिम समुद्र के तटवर्ती प्रभास-क्षेत्र में स्थित सोमनाथ मंदिर तक लगभग चार हजार किलोमीटर यात्रा की। इस यात्रा का मार्ग इतना लंबा इसलिए हो गया है कि सरस्वती का प्रवाह-मार्ग हरियाणा-कुरूक्षेत्र, राजस्थान-बीकानेर, जैसलमेर, बाड़मेर और गुजरात के अम्बानी, सिद्धपुर आदि नगरों, उपनगरों,

ग्राम, सरोवर, तीर्थस्थान, देवमंदिर, टीले, थेहड़, खंडहरों में से होता हुआ पश्चिम सागर में समाहित हो गया है। इस मध्य हमारे दल ने एक सौ से अधिक स्थानों का सर्वेक्षण किया और स्थानीय व्यक्तियों के साथ संपर्क स्थापित करके उनकी परंपरागत जानकारी से अनेक तथ्य एवं प्रमाण एकत्रित किए। उत्खनन किए गए स्थानों से भी हमने प्रचुर पुरातत्त्वीय सामग्री उपलब्ध की है। इन सब उपलब्धियों की चर्चा करना यहां संभव नहीं है। परंतु सरस्वती नदी के प्रवाह मार्ग का दिग्दर्शन कराना आवश्यक है।

यद्यपि लुप्त नदी के प्रवाह मार्ग के संबंध में विद्वानों का कोई एक निश्चित मत नहीं है तथापि अभियान दल ने सर्वाधिक प्रचलित मान्यता का अनुसरण किया है। सरस्वती नदी सिरमौर जिले में शिवालिक पर्वतमाला के अंतर्गत स्थित आदि बद्री के पार्श्व में एक क्षीण धारा के रूप में बहती हुई दृष्टिगत होती है। इसी पतली जलधारा को स्थानीय विद्वान और ग्रामीण लोग सरस्वती की मूल धारा बतलाते हैं और आदि बद्री की दायीं ओर से बहने वाली और सरस्वती से कई गुना मोटी धारा को सोम नदी कहते हैं। सरस्वती की क्षीण धारा लगभग दो किलोमीटर दूर तक बहकर अदृश्य हो जाती है। आदि बद्री से अठारह किलोमीटर की दूरी पर एक उपनगर है, जिसका वर्तमान नाम विलासपुर है। वहां के वयोवृद्ध महानुभावों ने हमें बताया है कि सन् 1852 तक सरकारी कागजातों में इस उपनगर का नाम व्यासपुर लिखित है। वहां के लोकमानस में परंपरागत धारणा चली आ रही है कि महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास कुरू-क्षेत्र के महायुद्ध की भीषण हिंसा-प्रतिहिंसा से व्यथित होकर सरस्वती नदी के एकांत, शांत एवं पावन तट पर निवास करने आए थे और युद्ध के बाद गणेश जी से 'जय' नामक अर्थात् 'महाभारत' ग्रंथ लिखवाने में प्रवृत्त हो गए। आज भी वहां सरस्वती के सूखे पात्र में पंप गाड़कर मधुर पानी निकालते हुए और उससे खेती करते हुए किसानों को देखकर प्राचीन प्रवाह संबंधी धारणा और भी दृढ़ हो जाती है। विलासपुर से कुरुक्षेत्र के मार्ग में भगवानपुर है। यहां सरस्वती के सूखे पात्र में बरसात का पानी अवश्य आ जाता है। कुछ विद्वानों ने भगवानपुर को भवानीपुर के नाम से भी व्यवहृत किया है। कुरुक्षेत्र की सीमा में प्रविष्ट होकर सरस्वती ने अपनी जलधारा से दक्षिण सर, प्राची सर, सन्निहितसर, ब्रह्मसर, ज्योतिसर आदि अनेक सरोवरों को भरपूर करके अपने वैदिक नाम 'सरस्वती' अर्थात् सरोवरों वाली नदी को सार्थक कर दिया है।

सरस्वती के प्राचीन प्रवाह-मार्ग के विशद प्रमाण स्थाणेश्वर, पिहोवा, अणाय वसिष्ठ आश्रम, विश्वामित्र आश्रम, जींद, हांसी, अग्रोहा, सिरसा आदि स्थानों पर परिलक्षित होते हैं। राजस्थान में नौहर, रावतसर, अनूपगढ़, हनुमानगढ़, सूरतगढ़ आदि स्थलों में भी सरस्वती कहीं दृश्या और कहीं अदृश्या बनी रही है। उसकी एक धारा पाकिस्तान के बहावलपुर से प्रवाहित होती हुई सिंधु नदी में मिल जाती थी। बीकानेर और उसके आगे जैसलमेर, बाड़मेर आदि मरूथलों में सरस्वती 'हाकड़ा' के नाम से जानी जाती है। सत्य तो यह है कि सरस्वती

का विशाल प्रवाह वहां जाते-जाते संकीर्ण हो गया था। 'हाकड़ा' शब्द 'साँकड़ा' से और 'साँकड़ा' संकीर्ण शब्द से व्युत्पन्न है। गुजरात में वर्तमान कच्छ और नूकच्छ प्रदेश पश्चिम समुद्र की ही विस्तृत सीमाएं हैं। स्थानीय व्यक्तियों ने बतलाया है कि सरस्वती सात धाराओं में प्रवाहित होकर वहां समाविष्ट होती है। यही ऋग्वेद की सप्तस्वसा अर्थात् सात बहनों वाली सरस्वती नदी है। आज भी उसका चरित्र बड़ा ही रहस्यमय है। वह लुप्त अवश्य है, परंतु उसके सूखे पात्रों के रेत में, उसके तटों की धूल में अभियान दल पूरे एक मास तक धूसरित होकर धन्य हो उठा है। वह लुप्त होकर वैदिक ऋषियों की सरस वाणी और वाग्देवी बन गई, जिसके नाम-स्मरण से शिक्षित वर्ग अपनी विद्या को सार्थक बनाते हैं। □

भूख

विजय राघव राव

जिन्हें हम वी.आई.पी. कहते हैं, जिन्हें हम अतिरिक्त सम्मान देते हैं, क्या वे सचमुच सम्मान के योग्य हैं? इन लोगों की बढ़ती 'भूख' देश को दीमक की तरह चाट रही है। प्रसिद्ध संगीतकार विजय राघव राव के संवेदनशील हृदय से निकली यह कहानी हमारे समाज की अनेक तथाकथित महान विभूतियों पर प्रश्नचिह्न लगाती है।

पेट जल रहा था। पीढ़ी-दर-पीढ़ी सबको यही बीमारी। आनन्द राव की स्थिति भी फर्क नहीं थी। गरीब घरों में अगर भूख न तड़पाए, तो क्या तड़पने के लिए सांड़ आएगा। आनन्द राव बहुत दिन से सोच में डूबा था। ऐसा क्या किया था उसके पूर्वजों ने कि तड़पते ही रहे भूख के मारे ताउम्र। इसका प्रायश्चित करना ही होगा, इत्यादि-इत्यादि।

मन में पढ़ने की तड़प बहुत थी, लेकिन पढ़ नहीं पाया था। उसके बस में नहीं था। आज भी उसके मन में ब्रह्मांड-सी शक्ति, दृढ़ निश्चय, इच्छाशक्ति है। महत्त्वाकांक्षा भी है। इनके कारण भीतर-ही-भीतर यदा-कदा कुलबुलाहट होती। चाहे कोई ऊट-पटांग काम भी करना पड़े—उसे भूख पर विजय पानी होगी। उसकी दादी मां कहा करती थी कि अगर कुछ करने की इच्छाशक्ति हो तो भगवान भी मुट्ठी में आ जाए। उसके भीतर कितने ही आदर्श थे। इस भूलभुलैया वाली दुनिया को किसी तरह काबू पाकर रास्ते पर लाना ही होगा।

काला बाजार, मादक पदार्थों की तस्करी, बलात्कार, डकैती, हत्याकांड। कैसे-कैसे अभिशाप समाज को खाए जा रहे हैं। जब कभी वह यह सब देखता तो सोचता, अगर मैं कभी मुख्यमंत्री हो जाऊं तो इन अपराधकर्मियों को बीच रास्ते में खड़ा करके कोड़े लगवाऊं। फिर सोचता, इसी तरह की बातें करते-करते बहुत से लोग चुनाव जीत गए, पर जैसे ही

कुर्सी पर उनका अभिषेक हुआ, उन्होंने समाज में व्याप्त इसी भ्रष्टाचार को अपनी कुर्सी का पाया बनाया। वे अपनी जेबें भरने लगे और वही सब-कुछ बोलने लगे, जिसके खिलाफ आवाज बुलंद किया करते थे। जनता को सत्तू घोलकर खिलाते और खुद चावल बिरयानी खाते और इस तरह अपना उल्लू सीधा करते। एक भी कहानी उसने ऐसी नहीं सुनी कि कभी किसी दीन-हीन का उद्धार हुआ हो।

कोई भी अच्छा काम करके, गरीब की दुआ लेकर मरने वाले कितने हैं? खैर, मैं भी इस देश का नागरिक हूं; मैं ही कुछ करूं। बूंद-बूंद से सागर बनता है। पर शुरुआत कहां से करूं? समाज की परिस्थितियां ऐसी हैं कि मेरे जैसे कितने ही चिल्लाते रहें, पर किसी के कान पर जूं तक नहीं रेंगती। कोई सुने भी क्यों? गरीब के गुस्से की क्या कीमत? तो भी कोई उपाय तो ढूंढना ही होगा। क्यों न पहले खुद श्रम करके ढेर-सा धन कमाया जाए। पहले अपनी भूख मिटा लूं, फिर दूसरों की भूख मिटाना आसान हो जाएगा। कुछ भी करने से पहले हाथों में ताकत चाहिए। अगर वह ताकत हो तो जनता अपने आप पीछे आ जाएगी, ठीक वैसे ही जैसे गुड़ के पीछे चींटियां।

आनन्दराव को एक बहुत विचित्र बात सूझी। उन दिनों गुंटूर में जहां देखो, जादूगरों के खेल-तमाशे बहुत होते थे। अपने इंद्रजाल, मायाजाल से जनता जनार्दन को जाल में फंसाकर, उसके पुराने मित्र, मोटी कमाई कर रहे थे।

ऐसे करतब करने वालों को सरकार खिताबों से सम्मानित कर रही थी। आनन्द राव को लगा एक बात तो है, इसके लिए किसी डिग्री-उपाधि की जरूरत नहीं। वह ठहरा अनपढ़। यही धंधा क्यों न सीख ले। झट से धनवान बनने के लिए जादूगरी का पेशा कैसा रहेगा। जल्दी से सीख जाए तो यह पेशा धन कमाने की जादू की छड़ी बन जाएगा। आनन्द राव को यही एक सीधा रास्ता नजर आया। बस, फिर क्या था! घूमता रहा, घूमता रहा, पैरों में पहिए लगाकर दूर-दूर तक भटकता रहा—गुरु की खोज में, और आखिर उसने एक गुरु को साध लिया।

आनन्द राव के चार साल उस्ताद मुहम्मद रशीद खां की शागिर्दी में गुजर गए। इतनी तेजी से बीते ये दिन कि पता ही नहीं चला। कुछ मत-विभेद न जानकर, जो गुरु ने दिया, खाया। जो गुरु ने कहा, वही किया। मेहनत तो होती ही थी, पर इंद्रजाल के प्रदर्शनों से जनता को मंत्रमुग्ध करते-करते अच्छा समय बीतने लगा। कुछ भी हो, अब अपने हाथों के करतब दिखाने के दिन दूर नहीं। अपने दृढ़ मनोबल से धीरज से पल-पल गुजारते, आनन्द राव अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जा रहा था। और फिर वह दिन भी आ गया। उस्ताद जी बोले, "बेटा! तुम भी मेरी तरह अब चार शिष्यों को दीक्षा दो, उन्हें भी यह कला सिखाओ और इस कला-परिवार का नाम रोशन करो। कोई इल्म सीखने से किस्मत बन जाएगी—इसकी गारंटी नहीं है। इल्म सीखकर, उसे व्यावहारिक रूप से इस्तेमाल

करने वाला ही कामयाब होता है। तुम्हें अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति देना ही गुरु का काम है। मैंने अपना कर्त्तव्य और दायित्व पूरा कर दिया।"

गुरु हंसते-हंसते बोले, "अगर गुरु की याद रह जाए तो नाममात्र की गुरु-दक्षिणा भेज देना। इस तरह मुझे याद रखोगे तो मुझे खुशी होगी। खुदा हाफिज।" आनन्द राव को वह क्षण दीवाली जैसा लगा। अब वह खुद भी जनता को मंत्रमुग्ध कर सकता था। जग के जिस मायाजाल में खुद जकड़ा हुआ था, उसी अपने मायाजाल में लोगों को जकड़ सकता था।

फिर क्या था! झट से किसी जंक्शन पर खड़े होकर 'शो' कर दिया। पट से रुपयों की वर्षा होने लगी। बड़ों ने ठीक ही कहा था—मेहनत का फल मिलेगा।

बहुत बड़ी कोठी। यूं तो बस्ती में सभी घर बड़े थे। राजनीतिक नेता, कांट्रैक्टर, कंपनियों के एक्जीक्यूटिव, समाज-सेवक, स्वामी-संन्यासी, सतगुरु, मंत्रियों के मित्र—सभी ने अपनी-अपनी गलियों को बांट लिया था और नाम दिया था—शांतिपुर।

इस इलाके में आए दिन कोई-न-कोई हत्या होती। एक-न-एक बलात्कार होता। धर्म के नाम पर पंडितों-मौलवियों के बीच तकरार होती। तो भी अखबारवाले लिखते बहुत शांति है शांतिपुर में। अगर मंत्री जी की मेहरबानी हो आप पर तो क्या चाहिए। शांतिपुर का निवासी गुनहगार साबित हो तो गलती उसकी नहीं हो सकती। किसी गरीब आदमी की तस्वीर सप्रमाण छाप उसे पकड़ लिया जाएगा और असली दोषी का अता-पता नहीं चलेगा। मुहावरा है—अमीर की बीवी सबकी भाभी, गरीब की बीवी—सबकी जोरू। यह है दुनिया का चलन। कहना यह चाहता हूं कि यह बहुत बड़ी कोठी नामी कांट्रैक्टर पुण्यमूर्ति साहब की है। उनके साहबजादे की शादी बड़ी धूम-धाम से होने वाली है। धनवान लोगों की बस्ती में, ऐसे चहल-पहल के समय, अगर आनन्द राव का नैतिक शो न हो तो प्रतिष्ठा में कमी ही मानी जाएगी। आनन्द राव की किस्मत देखो कैसे बदल गई। उसकी पांचों उंगलियां घी में हैं। पुण्यमूर्ति के बड़े लड़के की शादी हो और आनन्द राव का 'शो' न हो, यह कैसे हो सकता है? असल बात यह है कि दूल्हा-दुल्हन—दोनों आनंद राव के खेल को चाहने वाले हैं। जहां भी आनंद राव का खेल हो, वे दोनों गाड़ी लेकर पहुंच जाते हैं।

शादी, पाणिग्रहण संस्कार हो गए। उस रात आनंद राव के शो के पूरे इंतजाम किए गए हैं। मुख्यमंत्री और राज्यपाल, जो दूसरे गांव में आयी बाढ़ का निरीक्षण करने गए थे—जल्द ही अपना काम निपटाकर आने ही वाले हैं।

शांतिपुर में जो भी नामवर हस्ती है—उसे वहां हाजिर ही समझिए। जाज, पॉप, रॉक—आनंद राव उनकी लय में ऐसी मस्ती से जादू दिखा रहा था कि दर्शक झूम-झूम जाते थे। दर्शकों में बैठे नामवर व्यक्तियों को नाम से पुकारकर, उन्हीं के हाथों से जादू करा रहा था। आनंद राव ने मंत्री जी के पोते को बुलाया, उसके हाथ में सौ रुपये का नोट रखा, फुश बोला, नोट गायब। उसी नम्बर वाला नोट कमिश्नर साहब की पोती के पर्स से निकल आया। होटल के मैनेजर गणपति की आंखों पर पट्टी बांध दी। उनसे मुंह खोलने को बोला तो हजारों इडली, बड़ा, मसूरपाक कुम्भ वृष्टि से निकलने लगे। जनता में वाह-वाह हो उठी। आनंद राव की जय-जयकार होने लगी। आनंद राव की जय के नारे लगने लगे। दर्शकों में मस्ती छा गयी। आनंद राव डम डम डमरु से ऐसी आवाज करने लगा कि लोगों के दिल धड़क रहे हों। डम-डम करते-करते आनंद राव एकदम गंभीर हो गया। वह चिल्लाया—"देखिए, अब मेरा असली कमाल। भूख-प्यास जब तड़पाने लगे तो इंसान क्या-क्या खाता है। ओ भगवान अब आप खुद देखिए।" ऐसे बोलते-बोलते ही उसने सौ के सौ शीशे के गिलास उपमा से निगल लिए। भूख-भूख कहते-कहते वह उन्हें निगलने लगा।

सब लोग हजारों आंखों से देख रहे थे। कांट्रैक्टर पुण्यमूर्ति साहब को हंसी आ गयी। वह अपना संशय दूर करना चाहते थे। अपने बेटे की शादी में उन्होंने ही तो शो का प्रबंध कराया था। अपनी इस हैसियत से अगर वह यहां कुछ न बोलें तो लोगों को कैसे पता चलेगा कि वह प्रबंधक हैं। उन्होंने फिर पूछा, "क्यों भाई आनंद राव, सौ गिलास तो निगल लिये, फिर भूख-भूख क्यों चिल्ला रहे हो?"

जो बड़े-बड़े लोग आए थे, सभी ने पुण्यमूर्ति की हंसी में साथ दिया। वे पुण्यमूर्ति की बहुत इज्जत करते थे। बस आनंद राव आपादमस्तक जल गया। अपनी बचपन की गरीबी में भूख से तड़पने की उसकी सारी यादें सजीव हो गईं। उस क्रोध में उसकी आंखों के आगे उन लोगों की करतूतें डोलने लगीं, जो भीतर से ब्रह्मराक्षस और ऊपर से समाज सेवक नजर आते थे।

जोश में आकर बोला, "साहबो, देवियों और सज्जनों! गरीबी में मर-मिटने वाले करोड़ों देशवासियों को शीशा दो या कूड़ा-करकट, कुछ सोचते नहीं, वे सब खा लेते हैं। लेकिन एक बात जरूर है, बगैर भूख के भी पेट भरा हुआ हो तो भी कुछ लोग जो मसकते हैं, वह दिखाता हूं।"

सब बोले, "हां-हां, दिखलाइये।"

"आइए, सर्वश्री पुण्यमूर्ति साहब, दुर्नेश्वर साहब, महेश्वरानंद जी।" उसने इन तीनों को बुलाया। सबने तालियां बजाईं।

"आप सब जानते हैं, पुण्यमूर्ति साहब जाने-माने कांट्रैक्टर हैं। दुर्नेश्वर साहब संसद-सदस्य हैं। महेश्वरानंद जी भगवत सान्निध्य को पाये हुए धार्मिक गुरु हैं।" ऐसे महानुभावों

को सोने की कुर्सियों में विराजने के लिए कहा गया। यह शादी के मौके पर पहले ही लाई गई थीं। दर्शकों के दिल घड़ी की टिक्-टिक से बजने लगे। लोग सोचने लगे—जाने आनंद राव क्या चमत्कार करने वाला है, उनकी उत्सुकता बढ़ गयी।

तीनों वी.आई.पी. सोच रहे थे कि हमको बुलाकर आनंद राव ने सचमुच समाज में हमें सम्मान दिया है। लेकिन जनता उन्हें कुतूहल से देख रही थी।

'गिली गिली गिली गिली जिंदाबाद। उस्ताद की जय हो, धूं मां काली। बम बम भोले!' ऐसे बोलते-चोलते मंत्रोच्चारण करने लगा आनंद राव। उसके बाद के दृश्य देखते ही दांतों तले उंगली दबाकर दर्शक चकित रह गए।

दृश्य एक :

बैजवाड़ा में परसों एक बहुत बड़ा रेल ब्रिज पकापक गिर गया था। उसका सीमेंट गारा पुण्यमूर्ति साहब के पेट से धार बनकर निकलने लगा।

दृश्य दो :

अपने वोट के लिए जो कशमकश हुई, और हम सब में अपने जिस प्रतिद्वंद्वी को मरवाया, मोटल मुवैया के हाथ-पांव-नाक, खून से सने लाल फीते से दुर्नेश्वर के मुंह से निकलने लगे।

दृश्य तीन :

खुद मजहबी फसाद को चलवाया था, जितने हथियार इस्तेमाल किए गए थे, वे सब धार्मिक गुरु की दाढ़ी में से गिरने लगे।

आगे की कहानी कैसे बताऊं! पंख जितने रंगीन हैं, उतने ही रंग बदलते जाते थे उस कहानी के दृश्य। गिरगिट की तरह आपको अचरज तो होगा, आपको सुन जुगुप्सा होगी, ऐसा जानते हुए भी हमें दुश्चक्र का अंत ही दिखायी नहीं देता, आप खुद ही अंदाजा लगाएं। बाकी फिर कभी। □

अनुवादक : उमेश अग्निहोत्री

अपने-अपने रेगिस्तान

गोपाल चतुर्वेदी

जीवन के धरातल पर दौड़ते-दौड़ते अचानक रेत के समुद्र में पैर धंसकर स्थिर हो जाते हैं। अफसरी की कुरसी पर सतत बैठने के बाद रिटायरमेंट का रेगिस्तान एक आई.ए.एस. के जीवन को निरर्थक करने लगता है। सत्ता के रेगिस्तान में वह रिश्तों के जल की असफल तलाश करता है। डॉ. गोपाल चतुर्वेदी की धारदार कलम ने ऐसे जीवन की विसंगतियों को साक्षात् किया है।

वह सोफे पर अधलेटे थे। अखबार का एक पन्ना नीचे पड़ा था। एक हाथ में घण्टी की कॉर्ड लिये वह बार-बार उसका बटन दबा रहे थे।

"क्या तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है?" डबलरोटी काटने की छुरी लिये एक महिला अवतरित हुई। उन्होंने अखबार से अनिच्छा से आंख ऊपर उठायी—

"इसमें भी कोई शक है, मेरे दिमाग का दिवालियापन तो उसी दिन जाहिर हो गया था जब तुमसे शादी की थी।"

"मुझसे नहीं, मेरे स्टेटस से कहो। सब मेरे आई.सी.एस. पिता के प्रभाव को अपने कैरियर के लिए इस्तेमाल करने की तरकीब थी।"

"रामू कहां है?"

"बाजार गया है।"

"जरा अखबार का पन्ना उठा दो।"

"इसीलिए घण्टी बजा रहे थे, घर को दफ्तर समझ रखा है क्या!" हिंसक मुद्रा में छुरी हिलाती महिला अन्तर्धान हो गयी। वर्माजी ने चश्मा उतारा। नीचे टटोला। अखबार

का पन्ना अब तक उड़कर दूसरे कोने में जा चुका था। वह सोफे के हत्थे का सहारा लेकर उठे और उसे लाकर फिर पढ़ने में तल्लीन हो गये।

पर जैसे उनका ध्यान उचट गया था। इस घटना से उनको अपनी त्रासदी की याद ताजी हो गयी। अफसर 'रिटायर' क्यों होता है। अभी तो सिर्फ तीसरा महीना है। तैंतीस साल तक यही चण्डी बनी पत्नी कितने प्यार से पेश आती थी। वह दफ्तर से घर लौटते तो एक नौकर जूते उतारता, दूसरा चाय लगाता था, तीसरा बाथरूम में तौलिया-कपड़े सजाता था। वह बुदबुदाते—

"नीलू डार्लिंग, आप रेडी हैं न।"

"मैं तैयार हूं।" उत्तर आता।

हफ्ते में एकाध ही ऐसा दुर्भाग्य का दिन होता कि शाम घर पर बीते। तीन-चार 'ब्लैक-लेबल' पीकर मुर्गे की टांग चबाते। मेजबान ठहरने के लिए जिद-इसरार करता। वर्मा फिर मिलने का चलताऊ वादा करते, सरकारी गाड़ी में बैठकर घर लौटते और सो जाते। किसे पता था कि यह दिन भी देखने पड़ेंगे। घर में कुल जमा एक नौकर है। वह भी बमुश्किल तमाम मिला है।

नीलू कभी ऐसी तो न थी। चिड़चिड़ी, बदतमीज, हर बात में अपने मायके के बड़प्पन का अहसास कराने वाली। पर शादी के दशकों बाद भी कौन पति अपनी पत्नी को वाकई जानता है। सुबह से तैयार होकर दफ्तर, शाम को पार्टी या क्लब, शुक्रवार-शनिवार को अकसर दौरा, इतवार को मुलाकातियों की भीड़। उन्हें ख़याल आया, आई.सी.एस. पिता की इकलौती सन्तान थी नीलू। लाड़-प्यार में पली। अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ी। सामाजिक व्यवहार में माहिर। उनके बाप तो बाबू थे। बड़े भाई ने बी.ए. किया। फिर मास्टरी करने लगे। उसी साल उनकी बड़ी बहन की शादी हुई। सब दहेज में चला गया था। अधबना मकान बिक गया। गरीबों की इज्जत का मापदण्ड सर्वस्व लुटाने को उनकी कूवत ही तो है। घर की आर्थिक स्थिति से तंग आकर छोटा भाई पढ़ाई-लिखाई छोड़कर हाईकोर्ट के एक वकील का मुंशी बन गया था। सिर्फ वर्माजी एक अपवाद की तरह मेहनत-लगन से अपने लक्ष्य की प्राप्ति में लगे रहे। ट्यूशनें पढ़ायीं। रात-दिन एक किया। आई.ए.एस. में चुन लिये गये। उसके बाद भी वर्माजी की मान्यता थी कि सब किस्मत की कृपा है। नहीं तो हरप्रसाद उनसे हर मायने में बेहतर थे।

उन्हें याद आया। वह पहली बार नीलू के पिता के बुलाने पर उसके घर गये और ठगे-से रह गये थे। अपने पूरे प्रशिक्षण के दौरान वह अपने सहयोगियों से कतराते। सिर्फ एक उनका दोस्त था रमेश। न वह अपने घर की बात करता, न यह अपने परिवार की। शुरू-शुरू में तो हालत यह थी कि वर्मा खाने की मेज से भूखे उठ आते। नये मुल्ले ज्यादा प्याज खाते हैं। लोग रोटी तक को कांटे-छुरी से खाने की कोशिश करते। वर्मा जी दाएं-

बाएं देखते, छुरी कांटा बजाते, उबली सब्जियों, कटलेट की हत्या कर भी भूखे रह जाते। पर भोजन तो एक अनिवार्य विवशता है। सबकी आंख बचाकर वह टहलने के बहाने बाहर जाते। स्टेशन के पास के वैष्णव भोजनालय में डटकर दाल-रोटी खाकर लौटते। रास्ते भर सबको कोसते। कितने बनावटी लोग हैं यह। काली चमड़ी के अंग्रेजों की मानसिकता वाले लोग। इस मुल्क की तकदीर ही खोटी है। आजादी के बाद भी हम लोग उनकी बनायी जन-विरोधी प्रशासनिक व्यवस्था की जूठन चाट रहे हैं। यह भविष्य के अफसर क्या खाक जानते हैं हिन्दुस्तान को, जो उसका विकास करेंगे। इन हीनता के दिनों की याद नीलू के घर के ड्राइंगरूम में घुसते ही अचानक कौंध गयी थी।

"यह मेरी बेटी है नीलाम्बरा सहाय।" और बेटी! यह हैं अनुराग। अभी हाल में पोस्ट हुए हैं।" सहाय साहब ने परिचय कराया। उन्होंने बहुत ही संभलकर चाय पी थी। कहीं आदत के अनुसार सुड़कने का स्वर न सुनाई दे जाये। उन्होंने पैस्ट्री छुई तक नहीं। हालांकि मिठाई उनकी कमजोरी थी। कहीं छोटे कांटे में फंसते-फंसते टपक गयी तो क्या होगा? वह चुपचाप बैठे रहे। फिर औपचारिकता पूरी कर घर आ गये। उनके माता-पिता आने वाले थे। सहाय साहब ने कहा कि वह फोन कर सपरिवार उनसे मिलने आयेंगे। "आप तो 'बैचलर' हैं। जब भी घर के खाने का मन हो, आ जाया करें।" श्रीमती सहाय ने निमंत्रण दिया था।

शाम को जब वह अपने माता-पिता के साथ खाना खा रहे थे तो उन्होंने बाबूजी को टोका था, "जल्दी क्या है! खाते वक्त 'चप-चप' की आवाजें निकालना जरूरी है क्या!" वह स्वयं कांटे छुरी से खाने का अभ्यास कर रहे थे। वह बाएं हाथ में रोल कर रोटी चबाते और दाएं से कांटे में फंसाकर दाल या सब्जी उठाते थे। उनकी मां ने जब उनकी यह रियाज देखी तो ऐसे हंसी थी जैसे छुटपन में बन्दर को शीशे के आगे मुंह बनाते देखकर मां-बेटे खिलखिलाये थे। पर इस बार वर्माजी गम्भीर हो गये। कैसे फूहड़ लोग हैं। अफसर को तो दूसरों के लिए उदाहरण पेश करना है। वह सलीके से नहीं खायेगा तो जिला कैसे चलायेगा।

इसी बीच गरीबी में आटा गीला करने एक दिन सहाय साहब भी सपरिवार आ धमके। "अरे अनुराग! तुमने तो कभी 'मैंशन' ही नहीं किया कि तुम्हारे 'पैरेण्ट्स' आये हुए हैं, सहाय जी ने शिकायत की। "यों ही सर। कभी मौका ही नहीं पड़ा', वर्माजी ने खिसियाकर उत्तर दिया। सहाय युगल ने उनके माता-पिता से बिलकुल स्वाभाविक और सरल रूप से बात की। साधारण कप प्लेट में 'रेडीमेड' चाय पी। वर्माजी के पिता ने सबके सामने तश्तरी में डालकर चाय सुड़की। उनकी मां ने गिलास को धोती से पकड़कर गर्म चाय को फूंक-फूंककर ठंडा कर पिया। वर्माजी मन ही मन भगवान से मनाते रहे कि धरती फटे और वह उसमें समा जायें। पर ऐसा नहीं हुआ। खानदानी अफसर के सामने उनकी मां ने अपने लाल की प्रशंसा की, "हमारा बबुआ पुश्तों बाद परिवार में पहला अफसर

है।'' वर्माजी ने हसरत के साथ जमीन को ताका। पर वहां कोई हलचल नहीं हुई। उस शाम जैसे वक्त थम गया था। सहाय परिवार चालीस-पैंतालीस मिनट रहा पर लगा जैसे एकाध साल गुजर गया। उन्हें आइन्सटीन के समय के सापेक्षवाद के सिद्धांत पर यकीन आने लगा था। जब वह सहाय साहब के घर जाते, घंटों का सफर पलों में तय हो जाता।

और यह अकसर होने लगा था। उनका मन होता कि नीलू के साथ बैठे रहें। उसे चाय पीते देखते रहें। नीलू के सलवार-कुर्ते का परिधान उन्हें जैसे पागल कर जाता। एक बार तो हद ही हो गयी। वह नीलू के गर्दन के नीचे के हिस्से को टकटकी बांधकर ताकने लगे कि उसे कहना ही पड़ा, ''क्यों, आपकी तबीयत तो ठीक है न।'' शरीर तो स्वस्थ था। पर मन का क्या करें? उनके जीवन में नीलू पहली लड़की थी जिसने उनमें रुचि ली थी। वर्ना पूरा छात्र जीवन तो एकलव्य से लक्ष्य के चक्कर में हर स्वाभाविक आकर्षण को कुचलते बीता था। सुबह क्लास, दिन भर अध्ययन, शाम को ट्यूशन। हालत यह थी कि हफ्ते-डेढ़ हफ्ते में जब कभी सिविल लाइन्स जाते तो वह भी उन्हें अनजानी लगती। लोग उन्हें 'एबनार्मल' समझते। पड़ोस की राधा से एक बार मन्दिर में अनजाने टकरा गये थे तो जैसे उनके बदन में 'करेण्ट' दौड़ गया था। उस दिन बड़े अजीब-से दिवास्वप्न आये थे। कहीं अकेली मिल जाये तो ... । पर हनुमान जी की अराधना ने उन्हें मंजिल से जरा भी भटकने नहीं दिया। उनके हम उम्र चोरी-छिपे रेडियो सीलोन सुनते, नर्गिस-राजकपूर के गाने गुनगुनाते पर अनुराग मौके-बेमौके हनुमान चालीसा बुदबुदाते। आज नीलू को देखकर उनकी यही इच्छा हो रही थी कि जो राधा के साथ न कर पाये, नीलू के साथ कर गुजरें। उसे बांहों में भर लें। गर्दन के नीचे खुशनुमा उभार को ...! पर नीलू के सवाल से वह खिसिया गये। चोरी पकड़ी गयी की मुद्रा में सिर झुकाये बैठें रहे।

''नाश्ता करना है कि नहीं,'' एक कर्कश आवाज ने उनकी तन्द्रा भंग कर दी। वह अनमने-से उठकर खाने की मेज पर बैठकर सोचने लगे कि क्या यह वही नीलू है। उनका मन बीती यादों से कुछ द्रवित हो चला था। बेचारी ने पूरी जिन्दगी रसोई में झांका तक नहीं। अब नाश्ते से लेकर डिनर तक बनाना पड़े तो कोई झुंझलाये नहीं तो क्या करे। पर यह क्या उनकी गलती है। सर्विस में अगर कुछ तय होता है तो रिटायरमेण्ट होता है। उसकी मानसिक तैयारी जरूरी है। उन्होंने भी की थी। घर बैठकर मक्खी मारना भला किसे भाता है। नौकरी के दौरान ही घर भी बनवा लिया था। पर अनाप-शनाप तनख्वाह देकर भी नौकर न मिले तो वह क्या करे। नौकरों की पहले इफरात थी, अब अकाल है। बड़ी कठिनाई से रामू आया है, वह भी इस उम्मीद में कि देर-सबेर कहीं 'सरकारी' हो जायेगा।

''रामू लौटा नहीं?'' उन्होंने दलिया में दूध डालते सवाल किया।

''उससे पौरिज में चीनी चलवानी है क्या?'' नीलू ने लट्ठ मारा।

''तुम मुझे गलत समझ रही है। रामू रहता तो तुम्हारी मदद हो जाती।''

"शायद इसीलिए अखबार का पन्ना उठवाने के लिए घण्टी बजा रहे थे।"

"माना गलती हो गयी। मुझे माफ भी कर दो।"

इन्हें याद आया कि नीलू की वजह से उन्हें अपने लड़के से भी माफी मांगनी पड़ी थी। आकाश शुरू से होस्टल में रहा था। तब उनकी जिलों की भागदौड़ थी। जब वह कॉलेज में आया तब वर्माजी दिल्ली में स्थिर हो चुके थे। लड़का भी घर पर रहकर पढ़ाई कर रहा था।

वर्माजी तीन-चार दिन बाद दौरे से लौटे थे। फ्लाइट को शाम को पहुंचना था। वह आधी रात को 'लैण्ड' की थी। उन्होंने घण्टी बजायी। नौकर सो गये थे। आकाश ने दरवाजा खोला। वह इधर उधर की बात करते आकाश के कमरे तक पहुंच गये। वहां सिगरेट का धुआं भरा था।

"तुम सिगरेट कब से पी रहे हो?" उन्होंने क्रोध के कांपते हुए पूछा, "हमने छात्र जीवन में सिगरेट-शराब को हाथ तक नहीं लगाया था। यह तुम्हारी पढ़ाई-लिखाई की उमर है।" उन्होंने समझाया।

"डैडी! आप अपनी बात मत करिये।"

"क्यों नहीं अपनी बात करूं?"

"आपके और मेरे बैकग्राउण्ड में बड़ा फर्क है। आप शायद सिगरेट 'अफोर्ड' भी नहीं कर पाते।"

"कल 'ड्रग्स' लेगा और कहेगा कि 'अफोर्ड' कर सकता था। इसकी इतनी बदतमीजी की हिम्मत कैसे पड़ी।"

रात भर कोहराम मचा रहा। नीलू का बीच-बचाव बेकार रहा। सुबह जब वह दफ्तर गये तब भी झगड़ा निपटा नहीं था। लौटे तो नीलू रूठी बैठी थी। "मैंने और आकाश ने अपने घर जाने का फैसला किया है।" नीलू ने धमकी दी।

"पर तुम्हारा घर तो यही है," वर्मा जी ने भावना का सहारा लिया।

"आज के नब्बे प्रतिशत लड़के सिगरेट पीते हैं। तुम तो ऐसे बिगड़े जैसे उसने कहीं चोरी-डकैती डाली हो। बिना बात थप्पड़ भी लगा दिये।"

"और वह मुझे 'इन्सल्ट' करता रहा, उसका कुछ नहीं!"

"उसने कुछ गलत कहा क्या?"

वर्मा जी का प्रमोशन 'ड्यू' था। नीलू और आकाश वाकई घर छोड़ गये तो बड़ी भद होगी। सब लगन, निष्ठा और परिश्रम धरा रह जायेगा। "वर्मा बड़ा छुपा रुस्तम निकला। किसी और के चक्कर में था। पत्नी और बेटा घर छोड़ गये।" कहने वालों की जुबान कौन रोक सकता है! कैबिनेट सेक्रेटरी भी सहाय साहब के जूनियर रह चुके हैं। वैसे भी सरकार में प्रमोशन सिर्फ कामकाज से कहां होते हैं। बड़े लोगों से सम्पर्क, नेताओं से ताल्लुकात,

सही रिश्तेदारी आदि भी आवश्यक है। कहीं सहाय साहब भड़क गये तो। उन्होंने अपमान का घूंट पिया और मां-बेटे से अपने रात के व्यवहार के लिए माफी मांग ली।

अब तो आकाश भी आई.ए.एस. है। आंध्र प्रदेश में जिलाधीश है। पर उसने वर्माजी के रिटायरमेंट के बाद से चिट्ठी तक नहीं लिखी है। क्या आकाश भी अपने मां-बाप को भूल गया है? वर्माजी ने भी तो विवाह के बाद एक तरह से अपने परिवार से नाता तोड़ लिया था। चार साल पहले ही तो मां गुजरी थी। वर्माजी रस्मी मातमपुर्सी के लिए गये थे और बूढ़े बाप को बिलखता छोड़ आये थे। उन्होंने एक बार भी वृद्ध और बीमार पिता से अपने पास आने का अनुरोध करने का सोचा तक नहीं। कहां वह बाबू, कहां यह अफसर! जमीन-आसमान की खाई है।

उन्हें अचानक लगा कि इस अफसरी और सतत ऊँची कुर्सी की तलाश ने उनसे उनकी बुनियादी इन्सानियत छीन ली है। जन्मजात अपनत्व के रिश्तों को तिलांजलि देकर उन्होंने नये स्नेह संबंधों के जल को मुट्ठी में संजोना चाहा था। वह भी बूंद-बूंद कर रिस गया। वह अकेले बैठे मुट्ठी खोलने-बन्द करने लगे जैसे एकाध बचा-खुचा बूंद तलाश रहे हों। नीलू की आवाज सुनकर वह चौंक उठे—

"मैं खाना बनाऊं कि फोन सुनूं? बहरे हो गये हो क्या? और अगर पी.ए. का इन्तजार कर रहे हो तो वह भी अब नहीं है।"

गृह सचिव का फोन था। सरकार को गवर्नर के सलाहकार के लिए किसी अवकाश प्राप्त अधिकारी की आवश्यकता थी। यदि वर्मा जी जाने के लिए तैयार हों तो गृह सचिव मंत्री से बात कर सकते हैं। जो आनन-फानन फैसला करे, वह आला अफसर कैसा। वर्मा जी ने एक दिन की मोहलत चाही। साल-दो साल तो सुख से कटेंगे। क्या पता इसके बाद गर्वनर भी हो सकते हैं। उन्होंने किचन में जाकर नीलू को सूचना दी। वह चहक उठी।

"मुझे तो विश्वास था कि तुम्हारे ऐसे योग्य अधिकारी को सरकार घर नहीं बैठने देगी। इसमें सोचना क्या है, एक्सेप्ट कर लो। आकाश भी तो आंध्र में है।"

अचानक नीलू के व्यवहार के सुखद परिवर्तन से वर्माजी को ताज्जुब हुआ। क्या रिश्ते-नाते, स्नेह-परिवार सब कुर्सी से जुड़े हैं। यह उपयोगी है, इसे प्यार करो। यह नफा-नुकसान कर सकता है, इसकी बात ध्यान से सुनो। अब यह रिटायर हो गया है, इसे विस्मृति और उपेक्षा के कूड़ेदान में फेंक दो। "सोचना क्या है, फौरन 'हां' कर दीजिए और नीलू ने अनुरोध किया। पर वर्माजी जड़वत बैठे रहे। वही तो अपने परिवार से बेरुखी के जिम्मेदार थे। अपनी जर्बदस्त हीन भावना के अन्तर्गत उन्होंने एक बार तो यहां तक सोचा था कि भगवान ने उनको मां-बाप चुनने का अधिकार क्यों नहीं दिया। सिर्फ वक्ती सफलता और अधिकार से इन्सान का पूरा दृष्टिकोण बदल जाता है। क्या पता आकाश को भी लगता हो कि उसके रिटायर्ड पिता उसके समृद्ध और करीने से सजे ड्राइंगरूम में दीवार पर रेंगती

छिपकली जैसे हैं। मेहमानों के सामने शर्मिन्दगी के बायस। पर उनसे बचा जाये भी तो कैसे?

एक-दो साल सत्ता और मिल गयी तो क्या आसपास का माहौल और लोगों की मानसिकता बदल जायेगी। उनका आत्मग्लानि का एहसास बढ़ गया। उन्होंने चांदनी में चमकती रेत को चांदी समझ लिया था। शीतल, आकर्षक और हृदयग्राही। उन्हें याद आया कि बचपन में उन्हें जोर का बुखार आया था। दोपहर को रिक्शावाले भी आराम करते हैं। उनके पिता बारह वर्ष के पुत्र को बाँहों में उठाकर बिलखती माँ के साथ डॉक्टर के पास ले गये थे। उन्हें तब क्या मालूम था कि उनका बेटा इतना बड़ा अफसर बनेगा। और माँ-बाप को विशुद्ध स्नेह के बजाय बनावटी आभिजात्य की तराजू पर तौलेगा। सभ्य शब्दों के बगीचे के नकली तराशे हुए फूलों के सामने असली फूलों की क्या मजाल। रिश्ते स्वयं मुर्झा गये थे। उनका निजी अनिश्चय नये पद के बारे में और प्रखर हो उठा। माँ तो चली ही गयी थी। क्या उन्हें अपने पिता की देखभाल करनी चाहिए या सलाहकार की हड्डी के पीछे दुम दबाकर दौड़ना चाहिए, इस उम्मीद में कि बाद में कोई एक और टुकड़ा फेंक दे।

"तुम्हारा फोन," नीलू ने उन्हें जैसे सोते से जगाया। "किसका है?" वह अनमने से बोले। "पापा का", नीलू ने बताया। "सर! हम घर पर ही हैं। जरूर आयें, पापा!" वर्माजी ने सहाय साहब को आमंत्रित किया। दोनों राजधानी में रहते थे पर मुलाकात औपचारिक मौकों पर ही होती थी। सहाय साहब कई कंपनियों के डायरेक्टर थे, आला अफसरों और मंत्रियों के मित्र। कठिनाई से अपनी व्यस्तताओं से समय पाते थे। "कुछ ही अधिकारी नौकरी से रिटायर होकर पहले से ज्यादा 'बिजी' रहते हैं। सहाय उनमें से एक हैं।" लोग एक-दूसरे को सुनाते।

"पापा आ रहे हैं। क्यों न हम लंच कहीं बाहर खा लें?" वर्माजी ने सुझाव दिया। जब तक निर्णय हो पाता कि सहाय युगल आ गया। "पापा। जिन और टॉनिक लेंगे?" वर्माजी ने कर्तव्य निभाया। "एक ही ड्रिंक तो पीनी है। एम्बैसी में पी लेंगे। वहीं लंच भी खाना है। हम तो उड़ती खुशखबरी सुनकर आ गये थे", सहाय साहब मुस्कराये।

"किस बारे में?" वर्माजी ने आदत के अनुसार अनभिज्ञता जतायी।

"अपनों से क्या छुपाना। पापा को बता क्यों नहीं देते?" नीलू ने उन्हें टोका।

"हमें सब पता है, बेटे। वैसे अनुराग का उसूल ठीक है। बड़े पदों के लिए जनतांत्रिक सरकार में भी पुराने दरबार का चलन है। कौन जाने कब क्या हो जाये। ऑर्डर हाथ में आने तक इस बारे में बातचीत भी गलत है। दीवारों के भी कान होते हैं।"

"तो पापा! जब आप अपने साथियों से मिलते हैं, तो बात क्या करते हैं?" नीलू अपने माता-पिता के आगे भोली भाली दूध-पीती बच्ची के अंदाज में कूकी।

"इतने टॉपिक हैं। मौसम, बाल-बच्चे, पुरानी नियुक्तियों के अनुभव। फिर सबसे पापुलर तो पीठ-पीछे एक दूसरे की बुराई है।"

"इनको वेंकटरमन का किस्सा सुनाओ जिसे तुम लोग विकटरावण कहते थे।" श्रीमती सहाय ने अपने पति को प्रोत्साहित किया।

"अब तो बेचारे स्वर्ग सिधार गये लेकिन थे बड़े शातिर।"

"वह कैसे?" वर्माजी ने रुचि जतायी।

"उनके बैचमेट नैयर पंजाब के थे। दोनों दिल्ली में भारत सरकार के सेक्रेटरी थे। रिटायरमेंट के तीन साल पहले से वेंकटरमन मद्रास जाने और बसने के प्लान सबको सुनाने लगे थे। वह इस 'एग्जाइल' की जिन्दगी से मुक्ति चाहते हैं। जैसे ही आजाद हुए, पहली ट्रेन पकड़कर मद्रास चले जायेंगे। नैयर और वेंकटरमन दस-पंद्रह दिन के फासले से सेवानिवृत्त होने वाले थे। पंजाब के गर्वनर का पद खाली था। दोनों के नाम पर विचार चल रहा था। नैयर को यकीन था कि उनकी नियुक्ति निश्चित है। पर वेंकटरमन के आदेश हो गये।"

"यह भी तो बताइए कि उन्होंने नैयर की जड़ कैसे खोदी।" श्रीमती सहाय जैसे 'क्यू' पर बोली।

"वह कैबिनेट सेक्रेटरी से मिले। उनसे नैयर की जी खोलकर तारीफ की। फिर बताया कि नैयर दिल्ली में ही रहने का मन बना चुके हैं। शायद ही दिल्ली छोड़ें। यों भी वह पंजाब जाना पसन्द नहीं करेंगे। बहुत ही सिद्धान्तवादी अधिकारी है। अपने ही लोगों से 'आब्जैक्टिविटी'' बरतना मुश्किल है। वेंकटरमन यों तो मद्रास जाने को बेहद 'कीन' है पर देश की सेवा के लिए उन्हें यह त्याग भी मंजूर है।"

सभ्य हास्य का दबा-दबा सामूहिक स्वर गूंज उठा। ऐसे अनुराग! यह 'एसाइनमेण्ट' बुरा नहीं है। आकाश भी वहीं है। फिर आगे के 'प्रॉसपैक्ट' भी ब्राइट हैं।" सहाय साहब अपने दामाद को सलाह देकर विदा हो गये।

खाना खाकर वर्माजी लगातार होम सेक्रेटरी को फोन मिलाते रहे। या तो फोन 'बिजी' आया या उत्तर मिला कि साहब मीटिंग में हैं। "आखिर यह लोग काम कब करते हैं," उन्होंने नीलू से शिकायत की। "आप भी तो हाल तक सचिव थे, आपको पता होगा।" नीलू ने चुटकी ली। "आप अपना नम्बर छोड़ दीजिए। वह खुद फोन कर लेंगे।"

"मुझे पता है श्रीनिवासन ऐसा नहीं करेंगे। सत्ता में शराफत के दिन तो लद गये।" वर्माजी ने अपने रिटायरमेंट का ध्यान कर उत्तर दिया। हर अफसर को दृढ़ विश्वास होता है कि वह निहायत शरीफ और दूसरों की मदद करने वाला अधिकारी है। वह भी समय की मजबूरी का शिकार हो रिटायर हो जाता है। सरकार वैसी की वैसी चलती रहती है। "अपने मरे बिना स्वर्ग कहां। मैं कल खुद मिनिस्ट्री जाकर 'कनसेण्ट' दे आऊँगा।" फोन से निराश होकर वर्माजी ने नीलू को सूचित किया।

वर्माजी की रात करवट बदलते कटी। उन्हें पिताजी के प्रति अपने कर्तव्य का स्मरण

आया। उन्होंने मन को समझाया कि सलाहकार होकर हालत सुधरेंगे। अधिकार बढ़ेंगे। मेडिकल ट्रीटमेंट की सुविधा भी होगी। तब बाबूजी को भी अपने साथ रखना ठीक होगा। नहीं तो अपनी परेशानी में उन्हें भागीदार बनाने से क्या फायदा।

रतजगे के बाद भी वह सुबह तरोताजा उठे। रामू को जगाया। चाय पी। नीलू को अपने हाथ से 'बेड टी' पेश की। वह सबुह साढ़े सात बजे सूट-बूट डाले तैयार थे। एक बार फिर श्रीनिवासन को घर पर फोन किया। वह पूजा में थे। "रात को शराब पीते हैं, सुबह पूजा करते हैं।" उन्होंने नीलू को सूचना दी, "मुझे तो लगता है कि सिर्फ स्वीकृति देने से ही काम नहीं चलेगा। कोशिश भी करनी पड़ेगी। आकाश वहां अकेला है, यहां हम दोनों। अपनी जिन्दगी के दिन ही कितने बचे हैं। कुछ बेटे के साथ गुजर जायें।"

तैंतीस साल तक उन्होंने सत्ता के रेगिस्तान में रिश्तों के जल की असफल तलाश की थी। फिर मौका मिलते ही वह उम्मीद और उत्कण्ठा के साथ उसी मृग-मरीचिका के पीछे नयी लगन से दौड़ने को प्रस्तुत हो गये। □

शांति

सुदीप

प्रख्यात साहित्यकार तथा पत्रकार सुदीप ने बहुत दिनों बाद अपने पाठकों को कहानी दी है। सुदीप की कहानियों के चरित्रों को विस्मृत करना आसान नहीं है। एक ऐसा ही चरित्र-कंजर बहुत दिनों बाद लिखी उनकी ताजा कहानी 'शांति' का है। एक गांव के माध्यम से पूरा देश अपनी विसंगतियों के साथ उभर कर आया है।

लोग उसे कंजर के नाम से पुकारते थे। कंजर उसका नाम नहीं था। वह जात का भी कंजर नहीं था। कंजर एक गाली थी, जो बचपन से ही किसी उपनाम की तरह से उसके साथ जुड़ गई थी—शायद उसकी अलजुलूल आदतों और शरारतों के कारण। अब तो उसे इस नाम की इतनी आदत पड़ चुकी थी कि उसे लगता था, यह उसका असली नाम था।

उसने अपने पास जमीन पर पड़े बोरे को नफरतभरी नजरों से देखा, उसे एक बार हाथों से हिलाया, एक मोटी-भद्दी गाली दी और फिर उस पर थूक दिया। कुछ देर तक वह उसे उसी नफरत से जलती निगाहों से देखता रहा, फिर उसे छह फीट ऊंचे कंधे पर डाल चल दिया।

बोरा काफी भारी था, लेकिन उसके अपने हाथ-पांव भी काफी खुले-खुले, बेडौल और मजबूत थे। उसकी खुरदरी दाढ़ी, लाल-लाल आंखों और चाल-ढाल को देखकर यह अंदाज लगाना मुश्किल था कि वह हिन्दू था या सिक्ख या मुसलमान। वह ढीला-सा कुरता पहनता, नीचे घिसे हुए पायंचों वाला पाजामा और देसी जूती, जिसमें जाने कब से कीचड़ जमकर ऐसे सूख गया था जैसे वह भी चमड़े का ही हिस्सा रहा हो।

अकसर वह नशे में धुत्त नजर आता था। बोलता था तो उसकी आवाज उसकी

शख्सियत को झुठलाती-सी लगती थी : जितना लहीम-शहीम वह खुद था, उतनी ही बारीक उसकी आवाज थी। उसकी सांस धौंकनी की तरह चलती और उसमें बलगम खड़कता रहता। उसकी नाक से लगातार पानी बहता रहता, जिसे वह अपनी आस्तीन या कुरते से आगे के हिस्से से पोंछता रहता था।

आसमान में ब्लैक बोर्ड पर अपनी आधी रोटी जैसा चांद लटका हुआ था, उसकी रोशनी में झाड़ियां बौनी प्रेतछायाएं लग रही थीं। दूर खेतों में गीदड़ बोलने लगे थे। कंजर के पैरों की आवाज से चौंक कर कोई नेवला झाड़ियों में सरक जाता और सूखी घास और पत्तियों पर उसके पैरों की खड़खड़ाहट रात के सन्नाटे को थोड़ा-सा तोड़ जाती। कोई पत्थर कंजर के पांव से टकरा जाता, तो उसके मुंह से भद्दी गालियों की बौछार होने लगती।

'हरामी की औलाद!' उसने बोरे की तरफ देखकर गाली और चुड़ैलों की-सी महीन लेकिन दहला देने वाली आवाज में ठहाका लगाकर हंसते हुए बोरे को जमीन पर पटक दिया। जाने उसके दिमाग में क्या आया कि वह बोरे पर पैर की ठोकरें बरसाने लगा। कत्तक के नीम-ठंडे माहौल में जब ठोंकरें मारते-मारते वह पसीने से नहा-सा उठा तो वह वहीं जमीन पर बैठ गया।

दो मिनट तक वह रात के धूसर अंधेरे में घूरता रहा। फिर कुरते की जेब से उसने अद्धा निकाला और एक पाव शराब गटागट पी गया। फिर जब तक उसने बोतल को वापस जेब में रखा, तब तक उसका चेहरा खूंखार हो उठा था। वह उठा, उसने बोरे को फिर कंधे पर लादा और भारी कदमों से आगे बढ़ चला।

गांव के बाहर का विशाल तालाब अभी दो फर्लांग दूर था। छह-आठ मिनटों में ही वह वहां पहुंच गया। तालाब की पक्की सीढ़ियां उतरकर वह पानी के निकट तक पहुंचा और बोरे को उसने ईंटों से बनी सीढ़ियों पर गिरा दिया।

उसकी सांस कुछ-कुछ फूल आई थी। उसे सम होने में कुछ पल लगे। उन पलों में वह चांदनी के नीचे आराम से सोये तालाब के पानी को देखता रहा। दिन भर इस तालाब में बुगले और सारस खड़े रहते थे। इस वक्त सब तरफ शांति थी। एक क्षण कंजर को खयाल आया, वे पंछी इस वक्त कहां होंगे। फिर उसने सोचा, तालाब की मछलियों से भरा पेट लिये वे कहीं अपने घोंसलों में पड़े होंगे। मुझे क्या लेना!

तालाब सदियों पुराना था। काफी गहरा था। पक्का। चारों तरफ सीढ़ियां थीं, जो ईंट-पत्थरों से बनी हुई थीं। जहां-जहां से पत्थर उखड़ गये थे, वहां गांव वालों ने लखौरी ईंट लगा दी थीं। तालाब के एक ओर एक बहुत गहरा कुआं था और उसके पास ही नहाने के लिये हमाम बने हुए थे। लोग कहते थे, ये सारी चीजें पांडवों के जमाने में बनी थीं। वैसे अब कुएं का पानी सड़ने लगा था और हमाम वाले हिस्से में गांव की औरतें बर्तन मांजती थीं। दिन में तालाब पर काफी चहल-पहल रहती थी—औरतें कपड़े धोती थीं, दूर

के छोर पर छोकरे भैंसों को नहलाते रहते थे। आसपास हरियाली का नामोनिशान नहीं था। उत्तर की ओर करीब सौ गज दूर एक बूढ़ा बरगद था, जिस पर हजारों कौवे रहते थे, आसपास कुछ पेडों के सफेद ठूंठ थे, जिन पर दिन भर गिद्ध बैठे रहते थे—उपेक्षित, उदास बुड्ढों की तरह, कंजर ने अपनी जेब से अद्धा निकाला, दो घूंट में ही उसे खाली किया और बोतल को तालाब की ओर उछाल दिया। बोतल ने एक गोता खाया, उसकी सांस एक बार गुड़प की आवाज करती हुई उभरती और फिर वह पानी की गहराई में समा गई। उस आवाज से चौंककर—या पानी में हुई अचानक के कारण ... किनारे की कुछ मछलियां उछलीं और पानी में दूर चली गईं।

अपने हाथों को अपने पायंचे पर पोंछकर कंजर बोरे के मुंह पर बंधी रस्सी को खोलने लगा। पक्की गांठ को नाखूनों से खोलते हुए उसने फुफकार-सी मारी और साथ ही बुदबुदाया, "आज तालाब की मछलियों को भरपेट खाना मिलेगा—और कल बगुलों को मोटी-ताजी मछलियां ..."

बोरे का मुंह खोलते-खोलते उसकी आंखें चमकने लगीं।

बोरे में आदमी की लाश थी।

कंजर ने लाश को बोरे से निकालकर सीढ़ी पर ही लिटा दिया। लाश की हालत बड़ी भयावनी थी। जगह-जगह मांस के लोथड़े लटक रहे थे। खून जमकर काला पड़ने लगा था। कंजर ने मुर्दे के बाल पकड़कर उसका चेहरा ऊपर उठाया और उस पर थूक दिया ... थू! सन्नाटे में उसकी यह आवाज पिस्तौल की गोली की तरह कौंध गई।

लंबे क्षणों तक वह लाश हो घूरता रहा। फिर उसने कुरते की जेब से एक लंबा छुरा निकाल लिया। उसने उसके फल पर अपना अंगूठा फिराकर देखा। छुरे का फल काफी तेज था। फिर वह झुका और उसने लाश के पैर का अंगूठा पकड़ लिया और छुरा उसकी ओर बढ़ा दिया।

वह बहुत धीरे-धीरे अंगूठे को पकड़े-पकड़े उसे जड़ से काटने लगा। उसे कोई जल्दी नहीं थी। पूरी रात उसके पास थी। कुछ देर बाद कटा हुआ अंगूठा उसके बाएं हाथ में था। छुरे को जांघ पर रखकर उसने अंगूठे को दाहिने हाथ में लिया और उसे आंखों की सीध में लाकर देखने लगा। फिर हाथ ऊंचा करके वह उसे तालाब में फेंकने को ही था कि गांव की तरफ से गोली चलने की आवाज आई। एक क्षण के लिए कंजर का हाथ हवा में ही उठा रह गया। फिर उसके होंठों पर मुसकराहट उभरी और हौले से हंसकर उसने कटे हुए अंगूठे को तालाब में फेंक दिया। पानी में अंगूठे के गिरने से छपाक की आवाज हुई, लहरें उठीं और फिर शांति छा गई। कंजर ने अब मुर्दे के पैर की एक अंगुली पकड़ ली और छुरे को उस पर टिका दिया।

गांव की तरफ से लगातार गोलियां चलने की आवाजें आ रही थीं।

कंजर अपना काम करता रहा।

दो राज्यों की सीमा पर बसा वह गांव बड़ा सपाट-सा था। न कोई पहाड़ी-टीला, न कोई नदी-नाला। दूर-दूर तक खेत, जिनमें गेहूं और मक्के की फसलें लहलहाती थीं। सैकड़ों बीबड़ियां। कहीं-कहीं जोगियों के डेरे और धूने। बीच-बीच में पुराने मंदिरों के खंडहर, जो इस बात के गवाह थे कि यह इलाका कभी ऋषि-मुनियों की साधना-स्थली था। पक्के तालाब, कहीं-कहीं घने कुंज ... और मिट्टी की ऊंची-लंबी दीवारें। जहां खेत नहीं थे और जमीन खाली थी, वहां कीकर, करील, झरबेरी और आक के पौधे उगे हुए थे। वह जमीन ऊबड़-खाबड़ थी और उसमें जगह-जगह चूहों और सांपों के बिल थे ... गांव के ज्यादातर घर कच्चे थे, मिट्टी की दीवारों वाले, जिन पर गोबर का पोचा किया ही रहता था ...

गांव की मिट्टी इतनी उपजाऊ थी कि उसके बारे में कहा जाता था कि उसमें कंकड़ भी बो दो तो कुछ दिन बाद उनमें भी अंकुर फूट आते हैं। लोगों के मन में भी प्यार के सोते फूटते थे। मेहमानों का स्वागत दूध-लस्सी-छाछ और मुस्कराहटों से होता था। हर तरफ खुशी के कहकहे सुनाई देते थे।

इस गांव की एक बात और मशहूर थी : वहां कोई भी प्राणी आये किसी भी जाति-धर्म का, कोई भी भाषा बोलने वाला, गांव खुली ही बांहों में उसका स्वागत करता था और आने वाला कुछ ही दिनों में इस गांव का बाशिंदा हो जाता था। न काम की कमी थी, न रहने-खाने की।

मगर पिछले कुछ अरसे से उसमें घुन-सा लगने लगा था। लोगों की समृद्धि पहले दूसरों के साथ खुशहाली बांटती थी, अब वह फ्रिज-टी.वी.-ट्रैक्टर-वीडियो में तबदील होने लगी थी, लोग बहुत ज्यादा शराब पीने लगे थे, उनके दिल तंग होते जा रहे थे, जगह-जगह हथियार नजर आने लगे थे और कुछ लोगों की आंखों में गैरियत और अजनबी इस गांव में बनकर समाने लगी थी, कुछ की आंखों में उदासी।

ज्यादा दिन पहले की बात नहीं है, एक अजनबी इस गांव से गुजर रहा था। उसके कपड़े साधारण थे, लेकिन चेहरे से वह बड़ा मासूम और परेशान लगता था। 22-23 साल का जवान। चेहरे पर ऊबड़-खाबड़ दाढ़ी थी। काम की तलाश में इधर आया था, लेकिन अभी मन को पूरा बना नहीं पाया था कि गांव में घुसे या न घुसे।

खेतों के बीच बनी पगडंडियों पर कदम धरता वह आगे बढ़ रहा था। अपने आप में खोया वह कभी चलता, कभी ठिठककर खड़ा हो जाता ... तभी एक खेत की मेड़ पर उसे एक नाग अपना फन उठाये नजर आया था। वह भयाक्रांत-सा रुक गया था, लेकिन तभी उसका भय अजीब परेशानी में बदल गया, क्योंकि नाग से ठीक तीन कदम दूर एक लड़की का झुका हुआ बदन उसे नजर आ रहा था। वह खेत में सरसों की कोमल गदलें चुन-चुनकर तोड़ रही थी।

सोचने का ज्यादा वक्त नहीं था। नाग का फन ऊंचा-पूरा फैला हुआ था, लड़की

अपने काम में मग्न थी, नाग की उपस्थिति से पूरी तरह बेखबर, एक अजनबी जवान की उपस्थिति से पूरी तरह अनजान। युवक ने एक पल के लिए सोचा कि लड़की को आवाज देकर नाग की उपस्थिति के बारे में उसे आगाह कर दे, लेकिन फिर उसने तुरंत अपना फैसला बदल दिया। वह दबे पांव आगे बढ़ा, खेत की मेड़ के पास पड़े एक मोटे-सूखे डंठल को उसने उठाया और अपनी पूरी ताकत से नाग के फन पर दे मारा। अचानक हुए वार से नाग सिकुड़-सा गया और अपने घाव को सिर पर लिये-लिये तेजी से एक ओर को सरकने लगा।

युवक ने उस पर दूसरा वार करना उचित नहीं समझा।

डंठल के सांप के फन से टकराने से जो आवाज हुई, उससे चौंककर लड़की पलटी थी और अपनी पीछे एक अजनबी जवान को देखकर उसे कुछ अच्छा नहीं लगा था। वह उसके अपने गांव का नहीं था। इस तरह चोरों की तरह उसका उसके पीछे आ खड़े होना अशोभनीय था। क्या वह नहीं जानता, वह किसकी बहन है? या वह सचमुच नहीं जानता? मुंह खोले वह युवक से सवाल करते-करते रुक गई। युवक उसकी तरफ नहीं देख रहा था। वह जिधर देख रहा था, जब लड़की ने उधर देखा, तो एकबारगी उसका खून जमकर रह गया। सरककर दूर जाता स्याह-काला नाग यमदूत से किसी तरह कम नहीं था।

भय से कांपती वह सब समझ गई थी। कुछ कहने का तो सवाल ही नहीं उठता था। फिर उसने नजर उठाकर अजनबी के चेहरे की तरफ देखा और उसके दिल में एक हलचल-सी मच गई थी। अपनी बढ़ती हुई धड़कन को काबू में लाने की कोशिश-सी करती हुई वह बोली, 'परदेशी हो?'

परदेसी का मतलब समझते हुए भी वह यह नहीं कह पाया था कि एक ही देश के लोग परदेसी नहीं होते। बोला था, "हां ..."

"इधर कैसे आये?" वह अपनी जबान पर नियंत्रण रखना चाहती थी, फिर भी शब्द खुद-ब-खुद निकलते आ रहे थे।

"काम की तलाश में निकला हूं। सुना था, एक ऐसा गांव भी है जहां काम की कोई कमी नहीं है। सब सुख से रहते हैं ..." उसकी बात को सुनकर वह अन्दर से कांप गई—यह अब तक सपनों में जी रहा है। नहीं जानता, वह गांव तो कब का मर चुका। अब तो वहां सिर्फ खून-खराबा है। दहशत है। दिन-रात की हत्याएं हैं। लोग वहां से भाग रहे हैं।

और इस सब के ऊपर उसका अपना भाई—कंजर। क्या इसे कुछ भी नहीं मालूम? आज के जमाने में ऐसा भी कोई हो सकता है? इतना सीधा, सरल, भोला और भला।

"कैसा काम कर सकोगे?" उसकी जबान अब भी उसका कहा नहीं मान रही थी। सवाल किये जा रही थी।

"कुछ भी-जो भी मिलेगा, वह बोला था।

लड़की सोच में पड़ गई थी।

शाम ढल रही थी। उनकी परछाइयां लंबी होती जा रही थीं। लड़की को घर लौटना था। साग अब भी खेत के बीच पड़ा था—छोटे-से ढेर के रूप में। अभी घर जाकर खाना बनाना है। भाई आते ही खाना मांगेगा। जरा-सी देर हुई तो उसकी पीठ पर छित्तर तोड़ने लगेगा।

जवान जमीन पर लंबी लेटी परछाईं को देख रहा था मानो वह उसकी अपनी छाया न हो, अधमरा, पिटा-चिपका हुआ सांप हो। उसने उम्मीद भरी नजर उठाकर लड़की की तरफ देखा। दोनों की नजरें मिलीं और लड़की की धड़कन एक बार फिर अ-सम हो उठी।

"चलो। रहट पर चलो। हाथ-मुंह धो लो ... फिर गांव में आ जाना और ..." कुछ सोचकर वह रुक गई। "चलो", सरसों की गंदलों की छोटी-सी फूली को सीने से सटाये वह कुएं की ओर बढ़ने लगी। वह पीछे-पीछे हो लिया सिर डाले। खेत की मेड़ पर वह इस तरह चल रहा था जैसे उसे पता हो कि जरा-सा भी इधर-उधर पांव पड़ने से मेड़ की मिट्टी टूट सकती है या सरसों के पौधे कुचले जा सकते हैं। फसल की कीमत वह समझता था।

रहट पर कोई नहीं था। चहबच्चे में थोड़ा-सा पानी था। लड़की चहबच्चे के पास बैठकर साग की गंदलें धोने लगी। युवक ने हाथ-मुंह धोया और फिर हाथ फेरकर ही चेहरे के पानी को पोंछ डाला। डूबते सूरज की नारंगी किरणों में उसके चेहरे पर पानी की परत तांबे की-सी लग रही थी। लड़की ने उस तांबे को तपते हुए देखा और फिर उठ खड़ी हुई। बोली, "रात को चौपाल में सो रहना। सुबह लंबरदार से मिल लेना। वह तुम्हें काम दे देगा ..." इतना कहने के बाद वह रुकी नहीं। चुपचाप साग उठाये चली गई।

युवक वहीं बैठे-बैठे उसे जाते देखता रह गया।

वह भूखा था, प्यासा था। थका हुआ था। बहुत दूर से आया था। वह परदेसी नहीं था, देसी था। मजदूरी कर सकता था। सैकड़ों मील दूर के उसके गांव में उसके मां-बाप थे जो खुद खेत-मजदूर थे। उसके अपने गांव में उसके लिए कोई काम नहीं था। उसके गांव के सैकड़ों लोग बरसों से अलग-अलग प्रदेशों में चले गये थे। कभी-कभी वह सोच कर हैरान होता था कि उन प्रदेशों में मजदूर नहीं होंगे? होते तो जरूर होंगे। फिर बाहर के लोग वहां कैसे इतनी जल्दी काम पा जाते हैं? फिर बात उसकी समझ में आ गई थी। बाहर से आया लाचार मजदूर कम मेहनताने पर काम मिल जाना मंजूर कर लेता है। इसलिए उसे काम मिल जाता है। जिन्दा बने रहने का सहारा या बहाना मिल जाता है। उसे भी कोई बहाना मिल जाएगा। यही सोच कर वह घर से निकला था।

गांव में उस जवान को काम मिल गया था। गांव के बाहर रहने को एक झुग्गी भी मिल गई थी। और मिट्टी के साथ मिट्टी बने रहने के दिन-रातों के बीच कभी-कभी उस लड़की का पल-दो पल का साथ भी मिलता रहता था, जिसने उसे गांव की सीमा में प्रवेश करने की इजाजत दी थी। लेकिन कंजर को यह बात पसंद नहीं आई थी।

कंजर के पास अपनी जमीन के नाम पर जमीन का सिर्फ एक छोटा-सा टुकड़ा था। उसकी फसल से भाई-बहन और बूढ़े बाप, तीन प्राणियों के उस कुनबे की गुजर नहीं हो सकती थी। गांव के उस-जैसे कई लोग बंटाई पर खेती करते थे, मगर कंजर को बंटाईदारों से उसी तरह नफरत थी जैसे खेत-मजूरों से। इसलिए उसने घर चलाने के लिए एक काम चुन लिया था : वह उन लोगों की मदद करने लगा था जो अपनी धरती से ज्यादा आदमी के बहते हुए खून के नजारे को प्यार करने लगे थे।

कंजर से सारा गांव नफरत करता था। गांववालों को लगता था कंजर जैसे लोगों ने ही उनकी ऋषि-मुनियों की धूनों वाली धरती को हरियाली के बजाय खून के लाल-काले रंग से रंग दिया है। हत्यारों पर गुस्सा आता है, पर मुखबिर से नफरत होती है। वह नफरत कंजर की झोली में आ पड़ी थी और अपनी झोली को गांव की जमीन पर झाड़कर, उस धरती को कलुषित करके उसे और भी खूंखार होने का अधिकार मिल गया था। वह लगातार नशे में रहता। हमेशा गले में खड़खड़ाते बलगम को जीभ पर लाकर उस धरती पर थूकता रहता जिसने उसे और उसके पुरखों को जन्म दिया था और सारी दुनिया से प्यार करने का सबक सिखाया था, और वह लगातार उस संतों-मुनियों को गालियां भी देता रहता, जिन्होंने उसका कभी कुछ नहीं बिगाड़ा था।

कंजर की नफरत उस दिन और भी ज्यादा विषैली हो गई थी जिस दिन उसने अपनी बहन को एक परदेसी के साथ हंस-हंसकर बातें करते देख लिया था। उस रात उसने उसका गला ही घोंट दिया होता लेकिन एक तो बूढ़ा बाप बीच में आ गया, दूसरे बाहर से एक संदेशा आ गया कि वह फलां जगह पर आकर फौरन मिले—यह बहुत जरूरी है। बहन की गर्दन पर अंगुलियों के निशान ही पड़े, वह मरी नहीं ...

फिर उस रात अपनी जेब में पांच हजार के नोट और अंग्रेजी शराब की बोतल लिये वह घर लौटा था। आज की रात जो भी हो रहा था, वह उस रात का ही परिणाम था। रात आधी से ज्यादा बीत चुकी थी। आधी रोटी जैसा चांद तिल-तिल आगे बढ़ता बिलकुल सिर पर आ गया था। उसका उजास और भी तीखा हो हो गया था। उसकी शीतलता में बर्फ-सी घुल गई थी। तालाब के पानी में उसकी परछाईं ठहरी हुई-सी लग रही थी। न हवा थी, न कोई आवाज।

गांव की तरफ से गोलियां चलने की आवाज एक बार फिर आई थी। धार्मिक उन्माद से हुए दंगे से हुई विनाशलीला के बाद जैसा एक हृदय-विदारक शोर उभरता है, वैसा ही शोर रात की फिजां में था। तालाब के पार कहीं गीदड़ों की हुआं-हुआं उस शोर में मिल कर पैशाचिकता उत्पन्न कर गई थी। गांव की तरफ से किसी मोटरगाड़ी के चलने की आवाज आई थी। फिर थोड़ी देर मरघट की-सी शांति छा गई थी।

आखिर वह ऋषि-मुनियों की धरती थी। असीम-अपार शांति ही उसकी शाश्वत

प्रकृति थी। वैसे भी स्वर कहां शाश्वत है। शाश्वत है निःशब्दता ... शांति।

सारी दुनिया में पसरे शोर-शराबे के बीच वह शांति अब गांव के तालाब के किनारे भी आकर लेट गई थी। कंजर भी शांत था, उसका छुरा भी ... और तालाब की मछलियां भी।

तालाब के किनारे खड़े एक ठूंठ की टेढ़ी-मेढ़ी शाख के शिखर पर बैठा एक एकाकी गिद्ध भी एकदम शांत था ... उस धरती के किसी ध्यानस्थ ऋषि की तरह।

लेकिन पौ फटने से पहले ही गिद्धों का झुरमुट अपनी ऋषि-मुद्रा छोड़कर नरक के दूतों की तरह तालाब पर मंडराने लगा था। एक दूसरा गिरोह गांव पर भी पहरा दे रहा था, जहां लंबरदार के घर में हाहाकार मचा हुआ था। लंबरदारनी अपनी पति और बेटे की गोलियों से छलनी हुई, खून से लथपथ देहों पर बार-बार छाती-पीटती, बाल नोचती, बार-बार पछाड़ खाकर गिर पड़ती थी। घर की बाकी औरतों का भी यही हाल था।

उधर कंजर के घर में उसके बूढ़े बाप की दुबली-पतली मृत देह खाट पर पड़ी थी—आधी नीचे, आधी ऊपर ... गांव वाले आपस में कंजर की बहन की बातें कर रहे थे जिसे रात को आये लोग अपने साथ उठा ले गये थे। साथ ही लोग सवाल कर रहे थे : कंजर कहां है? ... वो कंजर कहां है?

कंजर वहां था जहां कभी ऋषि-मुनियों की समाधियां थीं, धूने थे, मंत्रोच्चार का स्वर था, पवित्र जल था ... वहां जहां कभी उनके पांव एक-एक सोपान जल की ओर उतरते थे—और जहां अब प्रातः के उतरते उजास में गिद्धों का झुंड अपनी गर्दनें नीची किए चक्कर लगा रहा था और अपनी सत्ता कायम करने के लिए सही क्षण का बेताबी से इंतजार कर रहा था।

लोग तालाब की सीढ़ियों पर पहुंचे थे तो सूरज की पहली किरणें तालाब के पानी में अपना लाल-केसरिया रंग घोलने लगी थीं। हल्की हवा बह रही थी और तालाब का पानी छोटी-छोटी लहरियों के नीचे कांपता और उन रंगों को अपने में समेटता-सा लग रहा था। पिछली रात के दृश्य को देखने के बाद उसकी कंपकंपी अभी तक खत्म नहीं हुई थी ...

लोगों ने देखा था : सीढ़ियों पर एक खाली बोरा पड़ा था। उसके पास नौजवान 'परदेसी' की कटी-फटी लाश थी जिसका एक पांव नहीं था। ऐसा लगता था, उसे किसी तेजधार चाकू या खंजर से काटा गया था।

उसके पास ही कंजर भी पड़ा हुआ था। वह ऐसे ढुलका हुआ था जैसे बहुत ज्यादा शराब पीने से कोई शोहदा लुढ़क जाता है। निकट ही एक छुरा पड़ा हुआ था। कंजर का भी एक पांव आधा कटा हुआ था जिसमें से बहता हुआ खून तालाब की अंतिम सीढ़ी तक पहुंच चुका था। कंजर के बदन में शायद उतना ही खून था, वरना तालाब का पानी रात को ही लाल हो गया होता।

तालाब के दूसरी तरफ बैठे बगुले और सारस पानी में उतरने से डर रहे थे। □

वृक्ष

मनोज दास

उड़िया के कथा-साहित्य में चर्चित कथाकार मनोजदास ने सामाजिक विसंगतियों पर सार्थक प्रहार किए हैं। बाढ़ में ध्वंस होते बरगद के पेड़ की रक्षा का अभिनय एक प्रतीकात्मक गहरा अर्थ देता है।

समय वर्षा-ऋतु की चौहद्दी छूने से पहले ही बड़े-बुजुर्ग गंभीर दिखाई देने लगे। प्रकृति के नानाविध संक्षिप्त संकेतों से उन्हें आभास होने लगा था आने वाले अशुभ पदचापों का।

उसके बाद सुदूर पर्वत पर बादलों के समावेश की एक निर्दिष्ट विचित्रता तथा लगातार कई रातों तक चांद को घेरकर विराजमान अप्राकृतिक धूसर वलय को देख उन्हें अपनी आशंका पर अब जरा भी संदेह नहीं रह गया था।

बाढ़ आई आधी रात को। यद्यपि गांव के अंधेरे में था निद्रा का प्राचुर्य, सियारों की विषादमय लंबी आवाजों से काफी लोग जाग गए। एक-दूसरे को पुकारने लगे। समवेत सजगता के बारे में निश्चिंत हो नदी की बांध पर जाकर एकत्रित हुए। कोई लालटेन, तो कोई मशाल लिये हुए। ठंडी हवा के झोंके से रोशनी हिल-हिल जाती। चेहरे कभी दिखाई देते तो कभी अदृश्य हो जाते, वास्तविकता और अवास्तविकता के बीच का क्षीण अंतर स्पष्ट करते हुए।

चांद बादलों से ढका था। नक्षत्र दिख रहे थे मरी मछली की आंखों की तरह—दर्द भरे निष्प्रभ। ऐसा लग रहा था जैसे नदी का स्वभाव बदल रहा है; लेकिन उससे अधिक कुछ मालूम नहीं पड़ रहा था। वह सहस्र फनधारी सांप-सी हिसकारी भर रही थी।

इस गांव में बाढ़ का पानी कभी नहीं घुसा; जबकि और दो कोस नीचे की ओर जाने पर उस मंडल में कोई ऐसा गांव नहीं है जिस पर संकट नहीं आता। लोग अभ्यस्त हैं; छप्परों पर, पेड़ों पर, दो-तीन दिन तक टंगे रहते हैं; उसके बाद फिर नीचे आ जाते हैं। जल्दी ही जड़ पकड़ लेता है मिट्टी में।

यह ठीक है कि गांव में पानी नहीं घुसता, किंतु हर बार बाढ़ के समय नदी गांव

के सिरे को दांतों से दबोच लेती है। हाथ-बित्ता भर मिट्टी, जंगली झाड़ियों का झुरमुट मुंह में डाल लेती है। कदाचित् ढहा ले जाती है एक विशाल किनारा।

अंतरंग, भद्र नदी जब वर्ष में एक बार अचानक अपरिचित हो जाती है, किसी को नहीं बख्शती, जरा भी ममता नहीं दिखाती, तब गांववालों को आघात लगता है। घर का कोई आज्ञाकारी पालतू जानवर यकायक पागल हो जाने पर, आपके सारे स्नेह-अनुरोध को न सुनने पर, जिस तरह उसे सिर्फ किंकर्तव्य दृष्टि से ताकते रहना पड़ता है, ठीक उसी तरह सभी भौंचक्के-से देखते रहते।

उस रात भी वही कर रहे थे सभी; लेकिन यह समझने में देर नहीं लगी कि इस बार मामला कुछ ज्यादा ही गंभीर है। नदी के बीच से दो-तीन बार आर्तस्वर सुनाई दिए। थक चुका है वह गला। गांववालों ने मशाल और लालटेन संभाल लिया। नदी में डूबते व्यक्ति की आवाज कुछ देर खूब तेज सुनाई दी, जीने की कोशिश में—जिसे असफल कोशिश जान शायद वे लोग समझते हुए भी नहीं समझ रहे होंगे। गांववाले आंखें फाड़े अंधेरे में कुछ ढूंढने की कोशिश करने लगे। धूसर धूमाभ फैलाव में एक जगह कुछ हलचल भरी कालिमा के अलावा और कुछ दिखाई नहीं दिया। बाढ़ की धारा में फंसी लंगरहीन नौका को जो एकमात्र उपदेश देना संभव होता है, उन्होंने चिल्लाकर वही सुना दिया, "धीरज रखो। जरा पौ छंटने पर निचले गांव के लोग तुम्हारी ओर रस्सी फेंककर मदद करेंगे—तब तक भगवान तुम्हारी मदद करें।"

वह चीत्कार कुछ अस्पष्ट हो गई। सूखे पत्तों की तरह हवा में इधर-उधर उड़ गए कुछ शब्द।

ठंडी हवा जोरों से बहने लगी और बारिश का एक झोंका आ पहुंचा। सभी बरगद के नीचे भाग आए। आश्वस्त हुए। सिर पर अंधेरे में ताक के ताक पत्ते बातें कर रहे हैं। वह भाषा अति परिचित है—अभय की भाषा। असंख्य बांहें फैली हुई हैं। युग-युग से उसने सहारा ही दिया है; विभिन्न घड़ियों में, विभिन्न समस्याओं में। ऐसा नहीं कि सिर्फ अपने प्रति श्रद्धालु लोगों के लिए ही वह दयालु हुआ है, उसके प्रति बैरभाव रखने वाले मूर्खों को भी उसने बचाया है; हालांकि उनका अहं चूर करने के बाद ही।

इस बारे में प्राचीनतम उदाहरण देते समय वयोवृद्ध व्यक्ति वृक्ष के निकट के एक स्तूप की ओर संकेत करते हैं। सैकड़ों साल तक क्षयग्रस्त होने के बावजूद वह स्तूप अब भी दो आदमियों की ऊंचाई के बराबर था। दो आदमियों के बराबर ऊंचे स्तूप को तुच्छ नहीं समझा जा सकता।

उस स्तूप के नीचे दबा हुआ है एक राजमहल का खंडहर। न जाने किस सदी का राजा सूर्यवंशी या चंद्रवंशी, उस बारे में कहना संभव नहीं। हालांकि वहां राजमहल बनवाते समय उसने इस वृक्ष की कुछ शाखाएं कटवा दी थीं। शायद और भी काटने या वृक्ष को

जड़ से खत्म करने की योजना थी; लेकिन तेज आंधी आ गई। नवनिर्मित महल ढह गया। राजा ने पूरे वंश समेत भागकर इस बरगद के नीचे आश्रय लिया। बरगद ने उनकी जान बचाई।

राजा वृक्ष से लिपटकर खूब रोये, उन्होंने क्षमा मांगी। आंधी थम गई।

और अतीत में चलें तो सतयुग में यह वृक्ष यहां रहने वाले संन्यासी की आज्ञा पाकर शून्यमार्ग में स्वच्छंदतापूर्वक उन्हें लेकर घुमा लाता था। परंतु उल्लिखित स्तूप की तरह इस इतिहास को समर्थन करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए पिछली पीढ़ी के गांववासियों की तुलना में इस पीढ़ी के जागरूक गांववासी इस बारे में कुछ कम बातें करते थे।

राजा ने जिस हिस्से को जकड़कर पकड़ा था, कालक्रम में वह लुप्त हो गया। अपनी असंख्य जटाओं पर बोझा डाले जी रहा वह वृक्ष अब एक महान संस्था का रूप धारण कर चुका है।

एक जटा के नीचे पत्थर का एक छोटा-सा टुकड़ा विराजमान है। वह बरगद देवता है। उनके कोई नियमित पूजक नहीं हैं। जब जिसमें भक्ति आती है, वह आकर उसमें सिंदूर पोत जाता है। धीरे-धीरे सिंदूर से पत्थर का आकार बढ़ गया। उन्हें कभी कोई षाष्टांग दंडवत न करने पर भी सभी सिर झुकाते। हालांकि विपत्ति पड़ने पर गांववाले गांव के भीतर के गांव-देवता तथा विशेष विपत्ति में दूर-दराज के मशूहर देवी-देवताओं को याद करते जरूर थे, परंतु छोटी-मोटी सुविधा-असुविधा पर इन्हीं के आगे दुखड़ा रोते थे। खासकर पाठशाला जाने के रास्ते से थोड़ा-सा रास्ता काटकर बालक-बालिकाएं गणित की पढ़ाई और गुरुओं के व्यवहार को लेकर इनसे आकर सहायता मांगा करते।

एक दूसरी जटा की छोर आमतौर पर ग्राम-सभा के केंद्र-बिंदु के रूप में जानी जाती थी। और एक जटा के नीचे गांव का पूजनीय सांड़ आंखें बंद किए आराम करता है। उससे अगली जटा के नीचे सप्ताह में दो बार कोस भर दूर हाट जाते समय नजदीक के गांव की सागवाली बुढ़िया बैठ जाया करती है। फिर उठने को उसके घुटने तैयार नहीं होते थे। वहीं बैठे जितना बेच पाती बेचती और शाम को घर लौट जाती। जाते समय बर-देवता के पैर पड़ती और बचे हुए साग को एक बूढ़ा सांड़ होता तो उसके आगे डाल जाती।

पेड़ की एक कोटरवाली जटा और थी। उस कोटर में एक सांप-परिवार रहता था—अहंकार शून्य, निरासक्त। इसके अलावा पेड़ की घनी शाखाओं और पत्तों के बीच अनगिनत पक्षी विश्राम किया करते थे।

युगों से महान आश्रय के प्रतीक के रूप में खड़ा है यह वृक्ष—जिस आश्रयदान के पीछे कोई उद्देश्य नहीं, प्रत्याशा नहीं, खड़ा है दंभ और आश्वासन के प्रतीक के रूप में, जो कालजयी है। इसकी छाया तले जो न्याय निर्णय होता है, वह महज मानविक विचार-प्रसूत नहीं माना जाता; उसके पीछे किसी अव्यक्त पवित्रता का समर्थन जैसा आभास होता है। उस निर्णय से कोई आसानी से मुंह नहीं मोड़ सकता।

बारिश थम गई; लेकिन हवा जोर-जोर से बह रही है। बाढ़ की पहली चमक अतीत बन गई। अब सबको घर लौट जाना चाहिए। सुबह होने पर फिर दूसरा दल आएगा। चौकसी बनाई रखी जाएगी।

यकाएक एक तेज आवाज आई। धरती कांप उठी। कुछ लोगों पर पानी के छींटे पड़े। बच गए, ये लोग नदी की ओर कुछ और आगे नहीं गए थे। अगर गए होते तो हमेशा के लिए चले गए होते। अंधेरे में पता लगाने का कोई उपाय ही नहीं था। कितने बड़े भूखंड में दरार पड़ी हुई थी। पलभर में समा गया वह नदी की गोद में।

सेवा-निवृत्त प्राथमिक शिक्षक निराकार दास ने अचानक चिल्लाते हुए कहा, "लौट चलो, लौट चलो।"

एक के पीछे एक कई सांप कोटर से निकलकर स्तूप की ओर चले गए। वृक्ष के घेरे से बाहर आकर सभी देखते रहे अस्पष्ट रोशनी में हिल-डुल रही उस गति को। किसी ने देखा एक, किसी ने दो तो किसी ने तीन, लेकिन सबको यह आभास हुआ कि श्रेणीबद्ध सैकड़ों सांप एक के पीछे एक चले जा रहे हैं—एक रहस्यमय प्राण स्रोत—अति प्राचीन कलेवर को छोड़कर।

भोर होने लगी थी। वृक्ष के पास जाकर निराकार दास ने ऊपर की ओर देखा। "मुझे तो कुछ भी दिखाई नहीं देता"—काफी देर तक देखते रहने के बाद उन्होंने कुछ कहा और अपने भूतपूर्व छात्र, वर्तमान समृद्धशाली दुकानदार रवींद्र को बुलाकर निर्देश दिया, "ऊपर देखकर बताओ—चिड़िया हैं?"

रवींद्र और उसके साथ कई अन्य लोगों ने बहुत देर तक देखते रहने के बाद कहा, "एक भी नहीं है।"

निराकार गंभीर दिखाई दिए। "ऐसा होते कभी सुना है?" उन्होंने अपने हम-उम्र साथियों से पूछा। सभी चिंतित दिखाई दिए और अपने-अपने तरीके से सिर हिलाते हुए 'ना' कहा।

"सांप, चिड़िया सभी अपना-अपना बसेरा छोड़कर चले गए। लक्षण ठीक नहीं हैं"—निराकार ने कहा और उनकी इस घोषणा के कुछ ही समय के अंदर रवींद्र तथा प्रखर दृष्टि वाले कुछ अन्य लोगों ने देखा कि वृक्ष के चारों ओर वृताकार में मिट्टी फटने लगी है।

"यदि वृक्ष गिरा तो यह सारी मिट्टी सहित उखड़ेगा, क्योंकि इसके अंदर उसकी बेइंतहा जड़ों ने पूरी मिट्टी को एक साथ बांध रखा है।" एक युवक ने अपने दो अन्य दोस्तों को समझाया। तीनों शहर में कॉलेज छात्र हैं। बढ़ा रखे थे लंबे बाल।

"क्या कहा। वृक्ष उलटेगा? तुमने यह बात कही कैसे? भला यह वृक्ष उलट सकता है? तुम्हारी जीभ से यह बात निकल आई?, तैश में आकर एक वृद्ध ब्राह्मण ने धमकी दी।

"उलटेगा नहीं? कॉलेज में पढ़ाया जो जाता है। देखें तो सही, अपनी विद्या के बल

पर इस वृक्ष को जरा बचाकर तो दिखाओ।" रवींद्र ने कहा।

"हम भला यह क्यों करें?" तीनों युवकों ने मज़ाक-भरी आवाज में जवाब दिया। "क्यों करोगे? भला कर ही क्या सकते थे, जो नहीं करोगे? करो, करो, हम पर दया करो, हमारे चौदह पुरुषों पर दया करो तो देखें। "इस बार रवींद्र की बातों का समर्थन एक युवक के पिता समेत और दस लोगों ने किया। एक युवक ने घबराते हुए कहा, "मैं यह कहना चाहता था ... कैसे करें।"

"अच्छा ... तो अब कैसे करें; बस इतनी-सी करामात, और इतने लंबे-लंबे बाल क्यों रखाए हो?" उसी वृद्ध ब्राह्मण ने सवाल भी जड़ दिया।

"अरे बच्चो! सुनो, तुम लोग मन ही मन मिन्नतें करो, पेड़ न गिरकर खड़ा रहा तो तुम लोग ये लंबे बाल कटवा दोगे। तुम लोग तो आज्ञाकारी हो! मेरी भी बात मान लो।" वैष्णव श्रीकांत दास मिन्नतें करने लगे।

पूर्वी आकाश साफ होने लगा था। वृक्ष के नदी की ओर वाले हिस्से की मिट्टी धंसने-सा आभास हुआ।

युवकों ने कुछ नहीं कहा। श्रीकांत दास ने रोते हुए ऊंची आवाज में कहा, "सिर्फ इन युवकों का ही नहीं, सुनो सभी, सबके पास का बोझ न सह पाकर यह वृक्ष आज उखड़ना चाहता है। मन ही मन हर कोई वृक्ष के आगे अपने सभी पाप स्वीकार कर लो। क्षमा मांगो। हरि बोल!"

सबने एक साथ हरिनाम कहा। आतुर होते हुए भी आशा थी उस आवाज में।

हरिनाम के बाद तीखी खामोशी छा गई; हृदय-मन करोर गया-सा। भोर होने के साथ-साथ बाढ़ का अस्वाभाविक फैलाव क्रमशः साफ होने लगा था। अति अहंकार भरी रफ्तार से कई चीलें जलराशि पर चक्कर काट रही थीं, अपनी उड़ान के उद्धविस्थान एवं क्षितिज तक फैली दृष्टि का उदाहरण देते हुए एकत्रित गांववासी कितने सीमाबद्ध हैं, इस बात के प्रति उन्हें सचेत करने के लिए।

धीरे-धीरे गांव के बालक-वृद्ध-औरतें सभी इकट्ठे होने लगे। क्या किया जाए? क्या किया जा सकता है? भिन्न-भिन्न शैली में सभी यही एक सवाल कर रहे थे। वृक्ष का एक हिस्सा साफ तौर पर निम्नगामी हो रहा है। एक बार युवकों को धमकी देने के बाद वृक्ष के संभावित विनाश के बारे में बातचीत करने के लिए अब किसी को संकोच नहीं था।

क्या किया जा सकता है? गांव के जिस किसी भी व्यक्ति में जरा भी असाधारणत्व था, एक-एक क्षण के लिए उन सब पर बारी-बारी से लोगों की नजरें टिकी रहीं। विशिष्ट कविराज श्रीधर मिश्र। कितनी विपदाओं से उन्होंने नर-नारियों को बचाया है। लोगों ने उनकी ओर देखा। उनके होंठ धीरे-धीरे हिल रहे थे। रोग के निदान के समय वे उसी तरह किया करते थे। लोग उसमें हिम्मत की भाषा पढ़ने के अभ्यस्त हैं। आज भी वही पढ़ी। लेकिन

काफी देर तक उनका होंठ उसी तरह हिलते रहने के कारण अब लोग वहां खड़े बंदूकधारी रग्घू दलबेहेरा की ओर देखने लगे। दलबेहेरा जहां कहीं भी जाते, अपनी इकनली बंदूक लेकर ही जाते। आज भी उन्होंने यही किया था। लोगों की निगाहें उन पर पड़ते ही, उन्होंने नीचे की ओर झपट्टा मारने को आ रही अति उद्धत चील की ओर बंदूक सिर्फ उठाए रखा।

"बस-बस"—निराकार दास ने कहा। दलबेहेरा ने बंदूक नीचे कर ली। लोगों ने लंबी सांसें छोड़ उनकी ओर से निगाह लौटा ली।

कोई आदमी एक खास खबर लेकर आया, "एम.एल.ए. साहब उस ओर के रास्ते से जा रहे हैं।"

"बुला लाओ, बुला लाओ"—दो-एक जिम्मेवार गांववालों ने कहा। युवकों का एक दल लंबी सांसें भरता हुआ दौड़ पड़ा। एम.एल.ए. के आने तक सभी बुत बने खड़े रहे। उतनी देर तक चिंता करने की जिम्मेवारी से राहत मिल गई थी।

ललाट पर इकट्ठी पांच सिलवटें बनाए एम.एल.ए. साहब तेजी से आ पहुंचे।

"देखिए, एम.एल.ए. साहब, देखिए, हमारी बदनसीबी। हम लोग डूब गए।" एक या एकाधिक लोगों ने बताया।

"तुम लोग कहां डूबे? यहां से तीन कोस आगे लोग बहे जा रहे हैं। तुम लोग तो ठीक से हो, ठीक रहो।" एम.एल.ए. जनता में विवेक उत्पन्न करने-सा हंसने लगे।

"हमने आपको वोट दिया था।" एक युवक की आवाज सुनाई दी। लंबे बालों वाला एक कॉलेज छात्र सामने आकर खड़ा हो गया। वोट देने की उम्र प्राप्त करने में उस वक्ता को और दो वर्ष बाकी थे। किंतु उसने 'मैं' नहीं कहा था; कहा था 'हमने'। उसके अन्य दो साथी भी भीड़ से बाहर आकर खड़े हो गए। घंटे भर पहले के लंबे केश रूपी आरोप के क्लेश-बोध से उबरने के लिए वे लोग दृढ़-संकल्प कर चुके थे।

"हमने आपके लिए क्या नहीं किया? लेकिन हमारी संकट की घड़ी में आप खीसें दिखा रहे हैं।" उन्होंने फिर आरोप लगाया।

उतरे हुए चेहरे से एम.एल.ए. ने एक बार जनता की ओर देखकर थूक निगलते हुए कहा, "आप लोग मुझे क्या करने को कह रहे हैं?"

कोई कुछ भी जवाब नहीं दे सका। एम.एल.ए. ने साहस करके पुनः वही विवेक-संजीवनी वाली मुस्कान छोड़ी और आह्वान किया, "कहिए, क्या करूं? आप लोग जो भी कहेंगे, जरूर करूंगा।"

"करना क्या है? बस कहने की बात है, हमने आपको वोट दिया था। आप ही के राज में हमारा यह सदियों पुराना पुण्य बरगद आज नदी में छलांग लगाने वाला है।" किसी विशिष्ट गांववासी ने कहा।

"राज? किसका राज भाइयो? अब तो न अंग्रेज रहे, न राज। अब राजा आप लोग

हैं। मैं तो आपका सेवक हूं," एम.एल.ए. ने कहा।

"सेवक हैं! कीजिए तो देखें सेवा। रोक लीजिए हमारे इस वृक्ष को!" लंबे बालों वाले एक कॉलेज युवक ने पुनः कहा।

एम.एल.ए. यकायक तमतमा उठे। "रोक लें? ठीक है, जरूर कोशिश करेंगे। क्यों नहीं? आओ, सभी कमर कस लें। क्या कर रहे थे अब तक? जाओ, मोटी रस्सियां जितनी ला सकते हो ले आओ। जाओ, दौड़ो। छोड़ो, कह रहा हूं।"

"सही बात है, जाओ, दौड़ो।" कुछ अन्य लोगों ने कहा।

प्रस्ताव की अवास्तविकता, आवश्यक मोटी रस्सियों की दुर्लभता से अवगत होते हुए भी कई लोग जाने को तैयार हो गए।

लेकिन अचानक वृक्ष का एक हिस्सा, कुछ जटाएं, भीषण आवाज सहित पानी में गिर गया। उड़ रही चील के डैनों पर चमकते जलबिंदु के छींटे जा पड़े।

"हे भगवान! हे भगवान!"

लोग नदी की ओर ताकते रहे। अचानक कोई चिल्लाया, "बरगद देवता का क्या होगा?" सभी सन्न रह गए।

वही दुबले-पतले गुस्सैल ब्राह्मण हठात् दौड़े वृक्ष की बची हुई जटाओं के नीचे। सर्प-विहंग द्वारा परित्यक्त वे स्थान भयावह थे। नदी में बस गिरने ही वाला है; फिर भी उस गीली और पोली मिट्टी पर बैठे सदियों से स्थान न बदले देवता को उन्होंने हिला-हिलाकर उखाड़ लिया। सीने से लगाए जनता के बीच लौट आए।

"देवता को जगह दो, जगह दो।" लोगों ने सम्मानपूर्वक ब्राह्मण को घेर लिया। किसी ने जमीन में अंगौछा बिछा दिया। 'च्च-च्च' की आवाज आई। सभी देवता के लिए कुछ करने को व्याकुल थे मानो वह एकाएक कोई शिशु बन गए हों।

पुनः एक दिल दहलाने वाली आवाज आई। सारा पेड़ चला गया। मत्त प्रवाह में डूबती-उतरती शाखा-प्रशाखाएं, हाहाकार करने की तरह।

"चले गए। वृक्ष-देवता चले गए .... हरि बोल! हरि बोल!"

काफी देर तक 'हरि बोल' ध्वनित होता रहा। उसके बाद सभी स्तंभित हो खड़े रहे, बौछार पड़ने के बावजूद।

बर-देवता के सामने बैठा था वृद्ध बिशू जेना। हठात् किसी ने देखा—वह कांप रहा है।

"अरे—अरे ... शायद बिशू पर देवता सवार हो रहे हैं।" लोग गांव की ओर भागे। ले आए झांझ, मजीरा, शंख। कई वर्ष पहले, जब वोट नहीं था, गांव के लड़के का शहर जाकर कॉलेज में पढ़ने का सवाल ही नहीं उठता था, उस समय भी कभी-कभी गांव-देवता के सामने बिशू भावुक हो उठता था। उसके कान के पास कुछ देर तक झांझ-मंजीरा बजाते ही वह कांपना शुरू कर देता। उसके चेहरे पर अद्भुत भाव आते—यंत्रणा

और अलौकिकता की अनुभूति। कुछ-कुछ आश्चर्य-वाणी भी वह बड़बड़ाता।

काफी वर्षों के बाद बिशू पर देवता सवार हुए हैं। बज रहे हैं आठ-दस शंख-मंजीरे उसके कान के पास। वह जोर-जोर से कांप रहा है। आंखें बंद हैं। अब मुंह खोला है उसने। बंद हो गए बाजे।

"जन्म लूंगा, पुनः जन्म लूंगा।"

इतना कहने के बाद वह फिर ध्यान में खोने लगा। फिर बजने लगा बाजा। फिर उसका मुंह खुला। बाजे बंद हो गए।

"सहस्र वृक्ष होकर मैं जन्म लूंगा; इधर-उधर चारों ओर।" आश्चर्य हो गांववासियों ने सुना विदा हो रहे वृक्ष की वाणी।

"हरि बोल! हरि बोल!!" बाजे और जोर-जोर से बजने लगे। वृक्ष बच्चों के साथ हाथ ऊपर करके नाचने लगे गांव के पुरुष। "हरि बोल, हरि बोल!!"

लंबे समय के तीव्र असहायबोध से सभी उबरने लगे; मानो वह उपमंडल अंधेरे से रोशनी की ओर बढ़ने लगा था—बाढ़ और बारिश के बावजूद।

"अरे, वो देखो!" एक युवक पूर्वी दिशा की ओर अंगुली दिखा रहा था। वहां घने काले बादल छंटकर दिखने लगा था थोड़ा-थोड़ा सुनहला सूर्य। सभी देखते रहे—मानो वह कोई अप्रत्याशित बात हो। □

अनुवादक : डॉ. राजेंद्रप्रसाद मिश्र

गुमनाम

पी. सत्यवती

आंध्र प्रदेश में छुटपन में बच्चों को प्रायः एक मक्खी की कहानी सुनाते हैं जो घर लीपते-लीपते अपना नाम भूल जाती है। नाम का पता लगाने के लिए काम छोड़कर सब से पूछती फिरती है। अंततः एक घोड़े से अपने नाम के बारे में पूछती है, तो घोड़े के पेट में से यह सब सुनकर उसका बच्चा मजाक उड़ाते 'ई...ई...' कहकर हिनहिनाने लगता है और मक्खी को एकदम याद आ जाता है कि उसका नाम 'ईगा' (मक्खी के लिए तेलुगु में प्रयुक्त होने वाला शब्द) है! इसी कहानी को आधार बनाकर स्त्रीवादी लेखिका श्रीमती पी. सत्यवती ने नारी की अपने व्यक्तित्व के बल पर अपनी एक अलग पहचान बनाने की आकांक्षा को रचनाबद्ध करने का सफल प्रयास किया है।

गृहिणी बनने से पहले एक युवती—शिक्षा-दीक्षा, बुद्धि-विवेक, प्रत्युत्पन्न मति, हास्य-लास्य सभी से युक्त एक लड़की।

उस लड़की की सुंदरता, होशियारी और उसके पिता द्वारा दिए गह दहेज को पसंद कर एक लड़के ने उसके गले में माला पहनाकर उसे अपनी गृहस्वामिनी बनाकर कहा, "देखो, यह तुम्हारा घर है!" उस गृह-लक्ष्मी ने तुरंत पल्लू कसकर घर को लीपकर एक सुंदर 'मुग्गू'[1] से सजा दिया। उसके पति ने अपनी गृह-स्वामिनी की तारीफ कर "तुम घर को लीपने में निपुण हो—'मुग्गु' बनाने में तो इस से भी ज्यादा निपुण हो—शाबाश, कीप

1. दक्षिण में सफेद रंग के चूर्ण ('मुग्गू पिंडि) से जो रंगोली बनाते हैं वह 'मुग्गु' कहलाता है।

इट अप", अंग्रेजी में फिर एक बार तारीफ कर उसकी पीठ थपथपाई।

इससे वह गृहिणी बहुत खुश हो गई। घर लीपना ही अपना लक्ष्य बनाकर जिंदगी बिताने लगी। हमेशा घर को साफ रखकर तरह-तरह के रंगों से रंगोली बनाती रही। इस प्रकार उसकी जिंदगी 'तीन पोंछे के कपड़े और छह मुग्गु बुह्लु'[2] बनकर चलती रही। लेकिन एक दिन वह घर लीपते-लीपते सोचने लगी, 'आखिर मेरा नाम क्या है?' और इस विचार से वह चौंक गयी। हाथ के पोंछे और 'मुग्गु बुह्लु' को वहां फेंककर खिड़की के पास जाकर सिर खुजाते हुए खड़ी रह गयी और गंभीर सोच में पड़ गयी कि 'मेरा नाम क्या है? ... मेरा नाम क्या है!' सामने वाले घर में नेम बोर्ड लगा हुआ है—'श्रीमती एम. सुहासिनी, एम.ए. पी.एच.डी., प्रिंसिपल, एक्स कॉलेज। हां, उसी तरह मेरा भी एक नाम होना चाहिए न—इस तरह कैसे भूल गयी—घर लीपने की खुशी में नाम ही भूल गयी! अब कैसे ...?' सोचकर वह गृहिणी घबराने लगी। उसका मन व्यग्र हो उठा। किसी भी तरह से घर लीपने का काम पूरा कर दिया। इतने में नौकरानी आयी—शायद उसे कुछ याद हो! "देखो, तुम्हें मेरा नाम मालूम है?" उसने पूछा।

"कैसी बातें करती हैं, मांजी! मालिकनों के नामों से हमें क्या काम है? आप हमारे लिए मालिकन हैं—उस सफेद मकान के नीचे वाले भाग में रहने वाली आप हैं।" वह बोली।

"हां, ठीक ही है! तुम्हें कैसे मालूम होगा?" उसने अपने मन में सोचा। स्कूल से दोपहर को बच्चे खाना खाने आए। 'उन्हें याद होगा मेरा नाम'—उसने सोचा।

बच्चों को ताज्जुब हुआ।

"तुम मां हो—तुम्हारा नाम ही मां है। बचपन से हम यही जानते हैं। पिताजी के नाम से ही पत्र आते हैं। उनको सभी नाम से ही बुलाते हैं तो उनका नाम हमें मालूम है—तुमने तो हमें अपना नाम कभी नहीं बताया और तुम्हारे नाम से कोई चिट्ठी-विट्ठी भी नहीं आती।" बच्चों ने झट से कह दिया। हां, मुझे पत्र लिखनेवाले कोई नहीं। मां और पिताजी हैं—एक-दो महीने में एक बार फोन कर देते हैं! बहनें भी अपने-अपने घर लीपने में निमग्न हैं। किसी की शादी-वादी में या पैरण्टम[3] में मिलते हैं तो नए-नए 'मुग्गु' के बारे में—पकवानों के बारे में बातचीत होती है। पत्र-वत्र नहीं लिखते। गृहिणी निराश हो गयी। उसी समय एक पड़ोसन 'पैरण्टम' में बुलाने के लिए आई। शायद उसे कुछ याद हो सकता है। उसने पूछा तो वह हंस पड़ी—"देखिए! मैंने आपका नाम कभी नहीं पूछा और अपने बारे में भी नहीं बताया। दायीं ओर उस सफेद मकान में रहने वाली दवाइयों की उस कंपनी

---

2. 'दिन दुगुनी रात चौगुनी' के अर्थ में तेलुगु में 'मुड्डु फलु आरु कायल' (तीन फूल और छह फल) का प्रयोग होता है। इसी को लेखिका ने मुड्डु अलुकुड्डु गुड्डलु आरु मुग्गुं बुह्लु' के रूप में बदलकर व्यंग्य किया है।

3. किसी पुण्य-पर्व पर पूजा-पाठ रखकर स्त्रियां जिसमें भाग लेने के लिए अड़ोस-पड़ोस की स्त्रियों को (सिर्फ स्त्रियों को) न्योता देती हैं, उस पूजा-कार्यक्रम को पैरण्टम कहते हैं।

के मैनेजर की बीवी—नहीं तो 'गोरी-लंबी' कहकर आपका जिक्र करते हैं, बस।'' उसने गृहिणी से कहा।

इससे अब कुछ फायदा नहीं है। बच्चों के दोस्त भी क्या बता पायेंगे। 'कमला की ममी' या 'आण्टी' के रूप में ही जानते हैं। अब पतिदेव का ही भरोसा है। अब याद हो तो उन्हीं को याद होना चाहिए।

रात को खाना खाते समय पूछा, ''ए जी! मैं अपना नाम भूल गई। आप को याद हो तो जरा बताइए।'' पतिदेव ने जोर से हंसकर कहा, ''यह क्या है? इतने दिन कभी नहीं हुआ, आज अपने नाम के बारे में पूछ रही हो। शादी के दिन से तुम को 'एमोय' कहकर बुलाने की आदत हो गयी। तुमने भी कभी यह नहीं कहा कि मुझे ऐसे मत बुलाइए, मेरा भी नाम है! इसलिए मैं भी भूल गया। अब क्या हुआ? सभी लोग तुम्हें मिसेज मूर्ति के नाम से पुकारते हैं न?''

''मिसेज मूर्ति नहीं, मुझे अपना नाम चाहिए। अब कैसे?'' वह दुख से बोली।

''इसमें क्या है? कोई एक नया नाम रख लो।'' उसने सलाह दी।

''बहुत अच्छा! आपका नाम अगर सत्यनारायण मूर्ति होता और आपको शिवराव या सुंदरम नाम रखने के लिए कहेंगे तो चुप रहेंगे? मुझे अपना ही नाम चाहिए।''

''ठीक है! पढ़ी-लिखी हो। सर्टिफिकेटों में नाम लिखा होगा न? उतना भी कॉमन सेन्स नहीं है क्या? जाकर देख लो।'' उसने फिर सलाह दी।

गृहिणी ने सर्टिफिकेटों को गंभीर रूप से ढूंढा—अलमारी में सिल्क साड़ियां, शिफान साड़ियां, सूती साड़ियां, मैचिंग ब्लाउज, पेटीकोट, चूड़ियां, पिन, सिंदूरदानी, चंदनपात्र, चांदी के प्लेट, सोने के गहने सब ढंग से सजे हुए हैं—कहीं भी सर्टिफिकेटों का कुछ पता नहीं। हां—शादी के बाद यहां आते वक्त उन्हें साथ लेकर नहीं आयी थी।

''जी हां, मैं उन्हें यहां नहीं लाई—मैं गांव जाकर सर्टिफिकेट ढूंढकर नाम का पता लगाकर दो दिनों में वापस आ जाऊंगी।'' पति से पूछा।

''बहुत अच्छा! नाम के लिए गांव जाना है क्या? तुम गांव जाओगी तो ये दो दिन घर कौन लीपेगा?'' स्वामी ने कहा।

ठीक ही है फिर! लिपाई का काम वही सबसे अच्छा करती है। इसलिए उस काम को किसी और को करने नहीं दिया।

हर एक के अपने-अपने काम हैं, उनकी अपनी नौकरी, बच्चों की अपनी पढ़ाई—इनको कष्ट क्यों देना है ... बेचारे ... सोचकर इतने दिन वह काम खुद ही करती आई है। असल में उनको आता भी नहीं है!

फिर भी नाम का पता चले बिना कैसे जीना होगा। इतने दिन तो यह ख़्याल ही नहीं था। ख़्याल आने के बाद मुश्किल लग रहा है।

"दो दिन के लिए किसी भी तरह से कष्ट सह लीजिए—जाकर नाम का पता लगाए बिना जी नहीं पाऊंगी।" अनुरोध करके वह गृहिणी बाहर निकली।

"क्यों बेटी, अचानक चली आयीं! तुम्हारे पति और बच्चे ठीक-ठाक हैं? अकेली क्यों आ गयीं?" मां-बाप ने प्यार से पूछा पर उसमें संदेह भी भरा हुआ है। उसे असली काम तुरंत याद आया—

"मां, मेरा नाम क्या है, यह बताओ?" बड़ी दीनता के साथ उस गृहिणी ने पूछा।

"यह क्या, बेटी? तुम हमारी बड़ी लड़की हो, तुम्हें बी.ए. तक पढ़ाकर पचास हजार दहेज देकर शादी कराई। दो बार डिलीवरी का भार हमने उठाया। हर बार अस्पताल का खर्च हमीं ने उठाया। तुम्हारे दो बच्चे हैं। तुम्हारे आदमी की अच्छी नौकरी है—भला आदमी भी है। तुम्हारे बच्चे भी समझदार हैं।"

"मुझे मेरा इतिहास नहीं चाहिए मां, मेरा नाम चाहिए। नहीं तो यह बताओ कि मेरे सर्टिफिकेट कहां हैं?"

"पता नहीं। अभी कुछ दिनों पहले अलमारी में पड़े हुए कागजों और फाइलों को खाली कर कांच का सामान वहां रखवाया है। कुछ जरूरी फाइलें ताक के ऊपर डाल दी हैं—कल देखते हैं—अभी इतनी जल्दी क्या है! अभी खाना खा लो।" उस गृहिणी की मां बोली।

उस गृहिणी ने नहा-धोकर खाना खा लिया, नींद नहीं आयी। खेलते-गाते, घर लीपते 'मुग्गु' डालते हुए नाम भूल जाने से इतने कष्ट सहने होंगे, यह उसने कभी नहीं सोचा था।

सुबह हो गयी, पर ताक के ऊपर की फाइलों में सर्टिफिकेट ढूंढने का काम पूरा नहीं हुआ। तब तक उसने जो भी सामने आया, उन सब से पूछा। पेड़ से पूछा—बांबी से पूछा।[4] नदी से पूछा। जिस स्कूल से निकली, उस स्कूल से पूछा, कॉलेज से पूछा। चीखते-चिल्लाते अंत में एक सहेली से मिलकर अपने नाम का पता लगा लिया। वह उसकी तरह पढ़-लिखकर शादी करने के बाद भी उसकी तरह जीवन को मात्र घर लीपना न समझ कर, घर लीपने को जिंदगी का एक पहलू मानकर, अपने और अपनी सहेलियों के नाम भी याद रखने वाली है। उस सहेली ने उसे देखते ही पहचानकर "हाय शारदा, मेरी प्यारी शारदा" कहकर चिल्लाते हुए बांहों में भर लिया। प्यास से मरते आदमी को कोई जैसे एक चम्मच पानी पिलाकर पुनः जिला दे, इस सहेली ने उस गृहिणी को वैसे ही जीवित कर दिया।

"तुम शारदा हो! तुम हमारे स्कूल में दसवीं कक्षा में प्रथम आयी थीं। कॉलेज में म्यूजिक कम्पिटीशन में फस्ट आयी थीं। कभी-कभी अच्छे चित्र भी बनाया करती थीं। हम दस लोग थे। मैं कभी-कभी उन सब से मिलती भी रहती हूं। हम लोग एक-दूसरे को

---

4. किसी समाचार को प्राप्त करने की व्यग्रता को 'चेट्टुनडिगिंदि-फुट्टनडिगिंदि' (पेड़ से पूछा बॉबी से पूछा) के मुहावरे से प्रकट करते हैं।

चिट्ठी भी लिखते रहते हैं। बस, तुम्हीं हम लोगों से दूर हो गयी हो। बताओ, यह अज्ञातवास क्यों कर रही हो?'' उसने पूछा।

''हां, प्रमीला, तुम सच कहती हो! मैं शारदा ही हूं। तुम्हारे कहने तक मुझे याद नहीं आया। मेरे दिमाग के तमाम खाने इस विषय पर केंद्रीकृत हो गये कि घर को और अच्छा कैसे लीपा जा सकता है! बस और कुछ याद नहीं!! तुम नहीं मिलतीं तो मैं पागल हो जाती।'' शारदा नाम वाली उस गृहिणी ने कहा। शारदा ने सीधे घर आकर ताक पर चढ़कर पुरानी फाइलों को निकालकर अपने सर्टिफिकेट, बनाए गए चित्र, पुरानी अलबम ढूंढ निकाले। स्कूल और कॉलेज में जीते हुए पुरस्कार भी खोज निकाले।

बड़ी खुशी के साथ घर लौटी। ''तुम नहीं थीं—देखो घर कैसा हो गया! सराय जैसा लग रहा है। अच्छा हुआ, तुम आ गयीं। अब हमारे लिए त्योहार ही है।''

शारदा ने पति से कहा, ''घर लीपने मात्र से त्योहार नहीं होता! और हां, आगे से मुझे 'एमोय-गीमोय' कहकर मत बुलाइए। मेरा नाम शारदा है। शारदा कहकर पुकारिए, समझे।'' गुनगुनाते हुए स्फूर्ति से भीतर चली गयी।

हमेशा कहां किस कोने में धूल जमी है, कहां कौन-सी चीज़ ठीक से रखी नहीं गई है, गंभीरतापूर्वक सोचते हुए डिसिप्लिन को महत्त्व देने वाली शारदा दो दिनों से जो सोफा बिना झाड़े पड़ा था—उसी पर जाकर आराम से बैठ गई। साथ लाए हुए चित्र बच्चों को दिखाने लगी। □

अनुवादक : डॉ. जी. उषालावण्या

बांग्ला कहानी

गवाही

श्यामल गंगोपाध्याय

साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित। एक दर्जन से अधिक उपन्यासों के रचनाकार। 'कुबेरेन विषय आशय', 'श्वेत पाथेदर टेबल' विशेष रूप से चर्चित। अपने तीव्र व्यंग्य और जनसामान्य के विद्रूप और विडंबना को चित्रित करने में सिद्धहस्त। वृद्ध जीवन के अभिशाप और उसकी विसंगतियों को इस कहानी में साक्षात् किया है।

मेरे सपनों की दुनिया इन पचास सालों में न जाने काल के किस अंधेरे में खो चुकी है। मेरी सारी बातें—खाना-पीना, चलना-फिरना और मेरे रास्ते सब धुंधले हो गए हैं। हां, एक याद बिलकुल ताज़ा है—वह है दादाजी का श्राद्ध, जिनकी मृत्यु मेरे बचपन में हो गई थी। मेरी मां की बहन उस श्राद्ध के मौके पर दिल्ली से आई थीं। वही सुबह-सुबह मेरा मुंह धुलातीं। वह साधारण-सी बात है लेकिन वह इसलिए याद है क्योंकि उस महिला की लंबी सुंदर उंगलियां जैसे इस्पात में ढलीं। लगता था जैसे वह लोहे की उंगलियों से आंखों पर झपट्टा मार रही हों।

उस मौसी की एक लड़की और दो लड़के थे। देवेश भैया, खगेश भैया और लतिका दीदी, जिन्होंने अभी साड़ी पहनना शुरू ही किया था। इन्हीं मौसी की वजह से मिल पाए। हम लोग कस्बे में पले-बढ़े थे। बात-बात पर काजल, पाउडर, सेंट और रूमाल—इन सब चीज़ों की आदत नहीं थी, इन्हीं से यह सब सीखा और जाना।

दिल्ली वाली मौसी दादाजी के श्राद्ध के अगले साल अपने बच्चों और मौसा को लेकर गर्मी की छुट्टियां बिताने आईं। उस वक्त आम और मछली हमारे कस्बे में सस्ती बिकती थीं। हम लोग पैर फैलाकर आम और मछली खाते-खाते गप्पें हांका करते।

देवेश भैया ने दिल्ली में कोई हिन्दी फ़िल्म देखी थी। उसका एक गाना नक़ल करके वह ऐसे गाते—'यह ना बते सकूंगा मैं ...' बड़े ही सुर में गाते। जब मालूम पड़ा है वह गाना ऐसे था—ये ना बता सकूंगा मैं—जिसका मतलब था मेरे लिए यह बताना मुश्किल है कि ... शायद किसी हीरोइन ने यह गाना गाया होगा।

लतिका दीदी देवेश से छोटी थीं और दिल्ली के राइसीना कॉलेज की प्रथम वर्ष की छात्रा। चूंकि मैं उस वक्त छोटा था और दूसरी या तीसरी कक्षा में पढ़ता था, इसलिए देवेश दा के गानों, लतिका दी के सेंट लगे रूमालों की खुशबू, पाउडर काजल और साबुनों से अपने आप को एक दूसरी ही दुनिया में पाता था, जो सपनों की दुनिया।

खगेश भैया लतिका दी से छोटे थे। उन्होंने गुलेल से चिड़ियों का शिकार करना मुझे सिखाया। वह बड़े जंगली गुस्से में हमारे पिछवाड़े वाले बगीचे में फुदकती गिलहरी या चहकती चिड़ियों के घोंसले पर गुलेल से निशाना साधने के लिए घूमा करते। उनकी निगाहें हमेशा उन्हीं पर टिकीं रहतीं।

मौसी उच्च रक्त्चाप के कारण लाल पड़ी रहतीं। उनका पहनावा था लखनवी चिकन के काम का ब्लाउज। मौसा जी कुर्सी पर पैर फैलाकर लुंगी पहन नंगे बदन कटोरा भरकर मुरमुरा खाते रहते। मौसी जी इनको सबके सामने लताड़तीं। उनका कहना था, मैं कमिश्नरिएट का क्लर्क हूं। सभी क्लर्क मुरमुरा ही खाते हैं, साहबों की तरह छुरी-कांटे से टोस्ट-आमलेट नहीं।

अब तक जितनी बातें कहीं, वह सब आगे आने वाली कहानी की भूमिका या पृष्ठभूमि कही जा सकती है।

मुझे अपने बड़े भैया के दमे के इलाज के लिए कलकत्ता जाना पड़ा। उस वक्त दूसरा महायुद्ध छिड़ा था। तब मौसा जी की कलकत्ता में बदली हो चुकी थी। खगेश भैया कॉलेज में पढ़ते थे। उसके साथ ही लाइन में आलेया में टिकट कटाकर फिल्म देखी थी। देवेश दा की बेकारी से मौसी जी उन्हें फटकारा करतीं। लतिका दी की शादी की बात चल रही थी।

जब बड़े भैया को डाक्टर दिखाकर कस्बे में लौटने वाला था तो मौसी जी ने बार-बार यह याद दिलाया, "दीदी से कहना, दक्षिण कलकत्ता में जोधपुर पार्क नाम से एक नयी जगह बनने जा रही है जो नाले वाली जगह को पाट कर बनेगी और जिसकी बिक्री पचहत्तर रुपये फी कट्ठे की दर से तय हो रही है। वह तीन कट्ठे का फ्लैट बनवा सकती है।"

जब घर लौटकर मैंने मां को यह बात बताई तो उनका जवाब था, "एक साथ सवा दो सौ रुपये कहां से लाऊं?"

मां की बात गलत नहीं थी क्योंकि तब बकरे का मांस दस आना सेर, सरसों का तेल पांच आना और चीनी चौदह पैसे सेर की दर से मिलती थी। बाकी सब तो भुला गया है। बस, इतना ही याद है।

इसके बाद देश का बंटवारा हुआ। हम लोग कलकत्ता आ गए। तब कुछ सालों

के अंदर यह देखा जाने लगा कि बंदरों को विलायत, लोगों को जर्मनी और प्याज-लहसुन अरब देशों में भेजे जा रहे हैं। ऐंट्रोकुइनल तक इंडोनेशिया में सप्लाई किए जा रहे हैं।

इसी बीच देवेश और खगेश भैया विलायत चले गए। लतिका दी की शादी हो गई। हालांकि शादी की खबर समय पर नहीं मिली। बाद में पता चला।

यह लतिका दीदी ही मेरे जीवन में पहली युवती थीं जो सपनों की नायिका बनकर मेरे किशोर और यौवन में बस गई थीं। इसका एक कारण यह था कि वह एक बार गर्मी की छुट्टियों में हमारे कस्बे में आम और फिश फ्राई खाने अपने मां-बाप और भाइयों के साथ आई थीं। कलकत्ता से जाते वक्त उनका रूमाल ट्रेन से प्लेटफार्म पर गिर पड़ा था, जब तक मैं वह उठाकर उन्हें देता, ट्रेन गुजर चुकी थी। सुगंधि भरा वह रूमाल मेरे सपने का खजाना बन गया। वह मेरी उम्र ही ऐसी थी कि मैं उसे भूल न पाया। काफ़ी दिनों तक उसे मैंने सहेजकर रखा हुआ था।

विलायत जाकर देवेश भैया एक कोयले की खान के वेल्स लेबर पार्टी के यूनियन नेता बन गए और खगेश भैया माइनिंग इंजीनियरिंग की डिग्री लेकर वहीं बस गए। दोनों ने वहां की गोरी-चिट्टी मेमों से शादी भी कर ली।

इसके बाद हमारा संबंध छीज चला। कभी-कभार इधर-उधर की खबरें मिलीं। हम भी इधर फेल कर रहे थे, पास कर रहे थे। उस हार-जीत के दौर में खुशबूदार रूमाल की याद ही एक सहारा थी।

मैंने जब सुना कि खगेश भैया मेम को लेकर देश लौटे तो मौसी जी ने उनकी चोटी को सरसों का तेल लगाकर गूंथा था। काली घाट में लोहा पहनाया और सहजन और सरसों मिलाकर सब्जी खिलाई थी। फिर भैया अपनी बीवी को लेकर वापस चले गए।

देवेश भैया नहीं आए। सुना, उनके पांच-पांच बच्चे थे। उनमें से एक मुक्केबाज था और उसने वेस्टइंडीज में मुक्केबाजी में ईनाम भी जीता था।

मौसाजी रिटायरमेंट के बाद अब भी मुरमुरा खाते हैं। लंबे-चौड़े नाले को पाटकर जोधपुर पार्क बना है। वहां का फ्लैट मौसी जी ने किराए पर चढ़ा रखा है और खुद का किराए का छोटा-सा फ्लैट नहीं छोड़ा है। इसमें दो प्राणी मौसा-मौसी रहते हैं। लतिका दी ससुराल में हैं। सुना है, उनके पति की खासी आमदनी है।

उसके बाद के पच्चीस साल न जाने कौन-से काल के गाल में समा गए। नयी-नयी आजादी भी पुरानी लगने लगी। जिंदगी भी बासी हो गई। हमारे बचपन में पुलिस लाल पगड़ी पहनती थी, अब नहीं। रिश्तेदारों-चचेरे-ममेरे-फुफेरे भाई और बहनों के साथ अब शादी-ब्याह, श्राद्ध, जनेऊ और अन्न प्राशन में मुलाकात होती है। सब तरफ के रिश्तेदारों की गिनती की जाए तो कम-से-कम दो सौ से ज्यादा ही होंगे। कौन किसी की खोज-खबर ले? कई के दांत नहीं। किसी ने नकली पाटा बनवाया है, शक्ल देखने से पहचानना ही

मुश्किल है।

हमारे मां-बाप दोनों ही गुजर गए। बच्चों की एक-एक करके शादी हो गई। उनके बच्चे भी देखते-देखते स्कूल जाने लगे। अब मिठाई, चीनी, बकरे का मांस और नमक खाने की मनाही है। बराबर यही खबर मिलती है वह मर गया तो वह गुजर गया। रानी का बेटा अमेरिका में है। पल्टू की बेटी एयरलाइन्स में एयर होस्टेस है। इसी तरह एक दिन यह भी पता चला कि मानी मौसी यानी लतिका दीदी की मां भी चल बसी। लेकिन मौसा जी जिंदा हैं। अभी भी जोधपुर वाले घर से किराएदारों को हटाया नहीं गया। वे लोग 1950 से एक-डेढ़ सौ रुपए किराया देकर मजे में घर को अलग-अलग हिस्सों में बांटकर कब्जा करके पिछले तीस-पैंतीस सालों से गुजर-बसर कर रहे हैं।

पिताजी के साढू भाई मौसा को देखने गया, जो किसी जमाने में मुरमुरा खाते थे और जवानी में दिल्ली के कमिश्नरिएट में क्लर्क थे। पता नहीं, किस जमाने में रिटायर हो चुके हैं।

वह फ्लैट दुमंजिले पर था। ट्राम लाइन से सीधे जाकर खड़ी सीढ़ी, छोटे-छोटे दो कमरे, एक बैठने का कमरा, किचन, बाथरूम—सब कुछ बड़े करीने से सजा-संवरा। असल में मौसी जी जब पचास-पचपन साल पहले दिल्ली में कम आमदनी में गिरस्ती बसाने गई थीं तो वह बड़ी ही किफ़ायती बन गईं। जब मौसा की तनख्वाह में बढ़ोतरी हुई, देवेश और खगेश भैया विलायत से पाउंड भेजा करते। तब भी उन्होंने अपना पुराना तौर-तरीका नहीं बदला था। हर खाने में विलायती ओवलटीन के डिब्बे सजे थे। मौसा जी ने खुद भी एक विलायती शर्ट से मुंह निकालकर पूछा था—"कौन है?"

मौसा जी एक ईजी-चेयर पर लेटे थे। मैंने जब अपना परिचय दिया तब उन्होंने पहचान लिया। मैंने पूछा—"उम्र कितनी है?" वे बोले—"सत्तासी।" बत्तीस सालों से पेंशन मिल रही है। पैंतीस साल नौकरी की। बीस साल की उम्र से नौकरी शुरू की थी।

"अब यहां कौन-कौन रहता है?"

"कोई नहीं। तुम्हारी मौसी को मरे दो साल हो गये हैं।"

"आपकी देखभाल कौन करता है?"

"नौकर ही करता है। आजकल के नौकर तो टिकते भी नहीं। अभी तो कोई नहीं।"

मैं यह देखकर चौंक उठा कि मौसा के गोरे-गोरे पैरों पर इस उम्र में भी कई काले बाल थे। मैंने पूछा, "रात को दरवाजा कौन बंद करता है?"

"किसी दिन बंद होता है, कभी नहीं होता।"

"यह क्या बात हुई? फिर तो सारा कुछ चोरी चला जाएगा।"

"क्या किया जा सकता है?" थोड़ा रुककर मौसा जी ने कहा, "जब मैं ही मरा जा रहा हूं तो सामान लेकर क्या होगा?"

मैंने देखा कि उनके गले की एक-एक नस एक-दूसरे के ऐसे लिपटी हुई थीं, लगता

था ट्रांजिस्टर के बदरंग तार एक साथ किसी गुच्छे में लिपटे हों। जब वह बात कर रहे थे तो लगता कि अभी उनके प्राण ही निकल जाएंगे। इसलिए मुझे कहना पड़ा—"रहने दीजिए। आप ज्यादा बात न करें।"

फिर भी उन्होंने बताया कि देवेश को उन्होंने चिट्ठी में लिखा था कि उनको आकर ले जाए। तब मौसी भी जिंदा थीं। लेकिन उसके बदले उन दोनों भाइयों ने दुगुने पाउंड भेजने शुरू कर दिए।

"पैसा कैसे निकालते हैं?"

"निकालता कहां हूं। सभी तो जमा हो रहा है। हर महीने पाउंड आ जाते हैं। उसी से किराया कट जाता है। बैंक डाक बतौर पेंशन की एक पर्ची भेज देती है। बैंक का ही आदमी दस्तखत कराकर महीने के शुरू में रुपये दे जाता है।"

मैं मन-ही-मन सोचने लगा, यह कैसी अजीब बात है? क्लर्क धोखा भी दे सकता है क्योंकि न तो यह पता है कितने पर दस्तखत करवाता है और न वह सारा पैसा दे जाता होगा।

मेरी शक्ल को देखकर मौसा जी मेरे विचारों को भांपकर अपने पतले और सूखे होंठों से मुस्कराए। लगा कि पतले होंठ अभी फट जाएंगे। वह बोले, "अब मेरे लिए पैसे का क्या मोल? सभी समान है।"

"क्या बोल रहे हैं, पैसे की जरूरत तो हर वक्त रहती है।"

मौसा जी ने चादर से बाहर पैर निकालकर चप्पल खोजने की कोशिश की, लेकिन वह मिली नहीं। तब बोले, "मैं भी कभी सोचता था पैसे से बड़ी कोई चीज़ नहीं है, उम्र बढ़ने पर पैसा ही देखभाल करेगा। पैसे से डॉक्टर, नर्स, दवाई, खाना सभी कुछ मिल सकेगा। लेकिन नहीं, ऐसा नहीं हो रहा है।"

"खाना कहां से मंगाते हैं?"

"और कहां से खाता हूं। नीचे जो चाय की दुकान है वहां से एक लड़का आकर चावल-दाल उबाल देता है, कभी-कभी मछली भी पका देता है।"

"ऐसा कब तक चल सकता है, मौसा जी?"

"मैं तो जानता हूं ऐसे चल नहीं सकता। लतु आई थी देखने। अपने पास ले जाएगी। उधर बैंक में पैसा, सूद समेत पहाड़ की तरह बढ़ता चला जा रहा है। कोई काम का नहीं। कौन उठाए, कौन खर्चा करे?"

उनकी मसहरी कौन टांगता होगा, दरवाजा कौन खोलता है, जूठे बर्तन कौन उठाता है, गिरने पर कौन देखेगा, दरवाजा कौन बंद करता होगा—यह सब सोचते-सोचते मैं नीचे उतर आया। देवेश और खगेश भैया तो इस बूढ़े को विलायत ले नहीं जाना चाहते तभी तो हर महीने जो पाउंड भेजते थे, उसका दुगुना भेजना शुरू कर दिया है।

मैं जब नीचे उतरकर आ रहा था तो मौसा ने दीवार पर देखने को कहा—जहां बच्चों

के पते थे। देवेश भैया का पता—आवाडिन। खगेश भैया—हैम्पास्टिड हिल। लतिका दीदी का अक्षय पाण्डुई लेन, शिवपुर, हावड़ा। सारे पते मेरे दिमाग में एक साथ जमा होकर न जाने कैसे गड्ड-मड्ड हो गये। क्योंकि मेरे दिमाग में उस वक्त ट्यूमर की तरह मौसा के बैंक में सड़ रहे पैसे के पहाड़ ने डेरा डाल रखा था, मुझे सिर्फ यही ख़्याल था—अब बकरे का मांस 80 रुपये, चीनी 9 रुपये, सरसों का तेल 40 रुपये खुले बाजार में मिल रहे हैं। दुनिया क्या से क्या हो गई है?

अगर लतिका दीदी ने ले जाने में देरी कर दी तो मौसा जरूर गुजर जायेंगे। बात करते-करते गला कांपने लगता है, हड्डियों का ढांचा जिसके हंसने से पतले होंठों को देख लगता है अभी चिर जाएंगे। लगता है कटे-फटे टुकड़े को गोंद से जोड़कर मौसा जी को बनाया गया है।

अब इस आखिरी समय को राममोहन राय के गाने में बांधा नहीं जा सकता। वह अकस्मात ही आ जाता है। हम कहते तो हैं जब तक सांस, तब तक आस। लेकिन कौन उस दिन को स्वीकार करता है। सभी जिन्दा रहना चाहते हैं। ऐसा भी हो सकता है वह दिन बिना किसी सूचना के आ जाए।

मेरी अपनी जिंदगी ही बदजायका होती जा रही थी। किसी तरह जिंदा हूं। नींद से उठकर खाऊंगा और पैसा निकालकर राशन उठाऊंगा। दोस्त कम हो चले हैं। जो हैं भी, उनके साथ बातें करने में मजा नहीं आता। इसी बीच एक दिन लतिका दीदी की चिट्ठी मिली पूरे एक पेज की—"पिताजी तुम्हें देखना चाहते हैं।" यही आशय था।

पता लिखकर आया था, तभी चिट्ठी मिली। ठीक है, मौसा अपनी लड़की के पास हैं, चलो, जान छूटी। तब उन्हें लावारिस मरना नहीं चाहता। दिल्ली की सूखी आबो-हवा में बहुत दिन रहने के बाद कलकत्ता की नम जगह रास नहीं आ रही थी। इसके अलावा मौसी भी नहीं हैं।

लतिका दीदी की ससुराल ढूंढकर मैं वहां हाजिर हुआ। वहां वही गृहिणी थीं। सास-ससुर फोटो में विराजमान थे। जमाई जीजा जी का राना घाट में शामियाने का कारोबार था इसीलिए सारे घर में गीली रबर की बू फैली थी। मेरे सपनों की लतिका दीदी अब घरनी, कानों में चेन लगा बाला, बड़ा तीनतल्ला मकान, आंगन में दूध देने वाली गाय। बड़े लड़के की अभी-अभी शादी हुई है। पुत्रवधु ने प्रणाम किया, घूंघट निकालकर। जीजा जी सोफे पर बैठे थे।

लतिका दी ने दोतल्ले पर आने को कहा, जहां मौसा जी रहते थे। वहां एक कोठरी थी, जिसके तीनों तरफ दीवार थी। खिड़की के सामने मौसा जी बैठे थे। कमरे की छत पर पंखा धीमी रफ्तार से घूम रहा था।

कमरे में घुसते ही मैं मौसा को देखकर चौंक गया। बिलकुल सफेद। मुझे पहचान

कर बोले, "मुझे रक्तचाप और चीनी की बीमारी है। लतिका किसी बात की परवाह न करके दोनों वक्त चावल खिलाती है।"

यह सुनकर मैं आश्चर्य में पड़ गया। सोच रहा था कुछ पूछूं लेकिन तभी लतिका दी ऊपर आ गई। सीढ़ी के ऊपर से ही बोल पड़ी—"सारी जिंदगी पैसा बचाकर तकलीफ से रहे। लड़कों ने पाउंड भेजा, उसे भी नहीं तुड़ाया। किसी दिन मर जाएंगे तो वह बैंक ही हड़प जाएगा। घर तो किराएदारों के कब्जे में जा रहा है।"

"अरे, तुम्हीं लोगों को ही तो सब कुछ मिलेगा, जल्दी क्या है?"

"जल्दी क्यों नहीं? मगर कभी पिताजी न रहें तो वह घर, बैंक का पैसा किसी के भी काम नहीं आएगा।"

"क्यों?"

"दादा और खगेश क्या विलायत से दस्तखत करने आयेंगे? बिनबंटी जायदाद बिना किसी वारिस के प्रमाण-पत्र के तब तक नहीं मिलेगी, जब तक दस्तखत नहीं होंगे। इतने सारे रुपये बैंक में पड़े रहेंगे।"

"जो हो, ठीक है।"

फिर वह कहने लगी, "पिताजी की ज़िद तू जानता है? इस जायदाद पर बेटों के बच्चों का भी समान रूप से अधिकार है इसीलिए वह यह वसीयत करके जाना चाहते हैं कि यह मकान और सब मिलाकर पांच लाख अस्सी रुपये जितने जिसके हिस्से में आयेंगे—सभी में बराबर-बराबर बंट जाएंगे। सब लोग क्या विलायत से अपना इतना छोटा-छोटा हिस्सा लेने दौड़े चले आएंगे?"

जिसको लक्ष्य कर ये सारी बातें हो रही थीं, उन्होंने हंसकर कहा, "ठीक है, वसीयतनामा बनवाकर ले आना। सब पर दस्तखत कर दूंगा, किस्सा ही खत्म हो जायेगा।"

लतिका दीदी अपने गिरस्ती के काम में चली गई। मौसा को देखकर लगता है मानो बिना हाड़-मांस का एक असहाय पंछी है। देह पर रत्ती भर मांस नहीं, लेकिन पैरों में काले बाल, एक आराम कुर्सी पर टूटी-फूटी हालत में पड़े। धीरे-धीरे खुद ही कहने लगे, "दान करने से खुद को बड़ा असहाय लगता है। पता नहीं, पहले क्या खत्म होगी—उम्र या बचत?"

फिर थोड़ा रुककर बोलना शुरू किया, "वसीयत कर देने से मेरे जाने के बाद ही घर में बंटवारा हो सकता था, लेकिन लतिका को सब्र नहीं।" यह कहकर वह जमीन की ओर देखने लगे।

"जीजा जी क्या कहते हैं?"

"उसी ने ही तो वसीयतनामा लिखवाकर उसकी कॉपी करवाकर लकड़ी के बक्से में रखवा दिया है। उसका कहना है, 'हमी लोग तो आखिरी वक्त देखभाल कर रहे हैं। जायदाद पर तो हमारा ही हक बनता है।' मेरा दामाद बड़ा हिसाबी और समझदार है।"

कमरे में मेरे और मौसा के अलावा और कोई नहीं था। मैंने पूछा—"किराए के फ्लैट में आप कब वापस जायेंगे?"

"वह रास्ता भी बंद हो चुका है। घर छोड़कर सारा सामान, कागज-पत्तर समेत मुझे यहां डाल रखा है। अब कहां जाऊं? मौत भी बड़ी लेट कर रही है, बेटे।"

जिस लड़की के घर में रहकर मौसा जी यह सब कह रहे थे, वही लतिका दीदी मेरे जीवन की पहली युवती थी जो मेरे सपनों में अपने खुशबूदार रूमाल और दूसरी चीज़ों से झांकती रहती थी। वही मेरी पहली चाहत थी।

अचानक लतिका दी आकर बोलीं, "पिताजी तेरी बात मानते हैं। तू कहेगा तो दस्तखत कर देंगे।"

मैं एक अर्थहीन हंसी हंसकर उठ बैठा। मैं इतना बेवकूफ नहीं था कि बाप-बेटी के बीच कुछ कहता। मेरा भी घर-संसार है। दांत का दर्द, अतिथि आदर-सत्कार और किसी के अनुरोध पर सिर-दर्द लेना। ऐसे में जब आंखें बंद करता हूं तो साफ दिखाई पड़ता है एक पिता जो आरामकुर्सी पर पड़ा-पड़ा सफेद हो चुका है। उसकी बेटी बाप की संपत्ति पर कब्जा जमाना चाहती है हालांकि उसकी गिरस्ती में धन की कमी नहीं। बड़ा-सा घर, गोहाल में दूध देने वाली गायें। फिर भी इतना लालच। लगता था, एक दिन मौसा जी मुझे बुला रहे हैं और साफ-साफ कह रहे हैं, "आयेगा न एक बार।"

एक दिन शनिवार की शाम को जब जाड़े के मौसम में आसमान सर्दी से ठिठुर रहा था, मैं अचानक वहां पहुंच गया। किसी को न पाकर सीधा दोतल्ले पर पहुंच गया। पहुंचते ही मौसा की कांपती आवाज सुनाई दी, "मैं जान-बूझ कर नाती-पोतों को कैसे धोखा दूं?"

समझ गया वही वसीयतनामा वाला मामला था। मौसा को लग रहा था दूसरे लड़कों के लड़कों और लड़कियों को भला क्यों वंचित रखा जाये?

लतिका दी की आवाज थी, "वे लोग तीन पैसा लेने यहां इस देश में नहीं आयेंगे।"

'नहीं आयेंगे ...' यह बात धमकी के सुर में कही गई थी। मैं लतिका को न देख कर भी उनकी शक्ल को देख पा रहा था। "नहीं आयेंगे ..." बोलते वक्त वह खुद ही गुस्से और धमकी से बुझ-सी गई थी।

ऊपर जाना ठीक है या नहीं—यह सोचते-सोचते मैं लतिका दी की निगाह में पड़ गया। वह बोल पड़ी, "आकर देख पिताजी की करतूत।"

वह ऐसे कह रही थी मानो मौसा जी तेल लगाए बिना तालाब में नहाने चले गये हैं। इतनी साधारण और हंसी की बात जैसे कुछ ही नहीं। वसीयतनामे पर अनिच्छा से उनसे दस्तखत कराना जैसे कोई बात ही न हो। यह कोई जोर-जबरदस्ती वाली बात ही न हो। यह ऐसे था, जैसे केवल तमाशे के लिए मौसा जी को जबरदस्ती स्कूल के डिबेट में ठेला जा रहा हो।

लतिका दी ने कहा, "तू ही एक बार बोलकर देख पिताजी को ..."

"देखूं," यह कहकर वह कमरे में घुसा। मौसा जी आरामकुर्सी पर एक तरफ खिड़की के उस पार खड़े गूलर की ओर देख रहे थे। मैंने कुछ नहीं कहा। कमरे में एक तरह की खामोशी थी।

मौसा ने खिड़की की ओर दृष्टि रखकर कहा—"बहुत दिनों से पता है हमारा कोई नहीं। हम किसी के नहीं हैं। तुम्हारी मौसी दो साल पहले चली गई हैं। उनका क्या कोई हमारे साथ अब बंधन है। कुछ भी नहीं है। हम सभी माया के बंधन में हंसते और रोते हैं।"

"इन्सान का बचपना ही सबसे लंबा होता है। गाय के बछड़े को देखो। वह जन्म लेने के बाद ही दौड़ लगाना शुरू कर देता है। हम लोग सारी जिंदगी मां-बाप पर निर्भर होने लगते हैं और उसी के चलते परवर्ती जीवन में संतान मां-बाप को तकलीफ देकर अपना बदला लेती है।"

"आप थके हैं, अभी रहने दीजिए। बाद में बात कीजिएगा।"

"नहीं। अभी कहूंगा। यह भी हो सकता है कि बाद में मेरा दिमाग काम न करे। तुम क्या जानते हो बेटा, चिड़िया सिर्फ कुछेक ही सुर निकाल सकती है। इंसान उसी सीटी का सुर तैयार कर गाना बनाता है और इस इंसान का आदिम आनंद क्या है, पता?"

"नहीं।"

"नर-हत्या। इंसान को सबसे ज्यादा खुशी हासिल होती है दूसरे इंसान की हत्या करके। यह उसका संस्कार है जो करोड़ों साल तक शिकार में काटकर मिला है। यह सब बातें इसलिए कह रहा हूं शायद बाद में और कुछ कहने का मौका नहीं मिलेगा, याद भी नहीं आयेगा।"

"अरे, आप यह क्या कह रहे हैं, मौसा जी?"

"तुम आज सुन लो, मैं जो कुछ कहता हूं सब ठीक है। तुम सिर्फ सुनते जाओ। टोक देने पर मैं भूल जाऊंगा। बातों का सिलसिला टूट जाएगा।"

मैं चुपचाप सुनने और सोचने लगा। "इंसान का लंबा बचपन, उसी से एक-एक तरह का बदला, चिड़िया कुछ-एक सुर ही जानती है, इंसान गाना भी गाता है, इस इंसान का आदिम आनंद नर-हत्या के उल्लास में ही छिपा है।"

"यह सब ढूंढने के लिए शिशु अपनी मायावी हंसी से सबको माया के बंधन में जकड़ लेता है। उसी माया-ममता के बंधन में हम इस धरती पर घर बनाते हैं, पैसा जमा करते हैं—समझे। नहीं तो हम कोई भी किसी के कुछ भी नहीं लगते। हम-तुम सब अलग-अलग हैं।"

बात करते-करते उठ बैठे तो मैंने कहा, "सो जाइये, और बात करने की जरूरत नहीं है।"

मौसा उठे और फिर आरामकुर्सी पर आंखें बंद कर लुढ़क गये।

"क्या हुआ?"

"लगा सारी दुनिया हिलने लगी।"

"आंखें खोलिए।"

"नहीं खोल सकता, डर लगता है, बेटा।"

"किस बात का डर? मैं तो हूं, मौसा जी।"

आंखें मूंदकर ही मौसा जी शांत स्वर में बोले—"बेटा, हिम्मत नहीं होती। लगता है आरामकुर्सी एक ओर धंसी जा रही है।"

कुछ देर चुप रहने के बाद मैंने पूछा, "फिर?"

"सामने की दीवार और खिड़कियां सब एक ओर झुक गये।"

"क्या कह रहे हैं आप?"

आंख मूंदकर ही मौसा जी बोले—"हां। और भी ऐसा दो बार हुआ था। लतु जानती है। लगता है कमरे में नदी का पानी घुस आया है। मैं आरामकुर्सी से फिसलकर गिर पड़ूंगा। बेटा, पकड़ो-पकड़ो मुझे।"

मैं चौंक पड़ा। यह सब क्या है? मौसा जी जैसे आरामकुर्सी के हत्थे को कसके पकड़कर किसी अदृश्य धार के खिलाफ जूझ रहे हैं। उनके जबड़े अकड़ गये थे—लड़ते-लड़ते। लेकिन अब वह लड़ नहीं पा रहे हैं। किसी भी वक्त वह अदृश्य धार उन्हें बहा ले जा सकती है। तभी तो लगा कि वे आरामकुर्सी पर ही गिर भी सकते हैं।

मैं खड़ा होकर उन्हें दोनों हाथों से उठाने लगा। उस वक्त मौसा जी जी-जान से चिल्ला रहे थे—"पानी आ गया ... मुझे कसकर पकड़ो। ..."

मेरे पीछे लतु दी आकर आहिस्ता से बोली—"छोड़ दे ... पकड़ने की जरूरत नहीं।"

मैं खिसियाकर बोला, "अगर ये गिर पड़े और सिर फट जाए तो?"

सचमुच ही उनका सिर ऐसे हिल रहा था जैसे मेले में तम्बाकूखोर खिलौनों की हिलती है। उनका सिर इधर-उधर हिल रहा था।

लतु दी ने और भी धीमे से कहा—"नहीं, गिरेंगे नहीं। यह पिताजी का वहम है।"

"फिर?"

"डाक्टर आकर देख गए हैं। कहते हैं, कान के अंदर जो पानी रहता है वह ज्यादा उम्र की वजह से न जाने कब सूख गया है। अंदर का एक वाल्व खराब है। ई.एन.टी. के डाक्टर आकर देख गये हैं। दिन में दो बार दो स्टूग्रेन टैबलेट खाने को कह गये हैं, दवाई खाने से संतुलन बना रहता है।"

यह कहते-कहते लतु दी ने अपने पिताजी के कान के पास जोर से मुंह ले जाकर जानने की कोशिश की।

"दवा ली थी?"

अब मौसा जी ने आंखें खोलीं। उनकी नजर में कोई जान नहीं थी, अस्पष्ट। किसी तरफ देखे बिना वे बोले, "कौन-सा टैबलेट?"

"याद नहीं?"

"अच्छा किया", यह कहकर लतु दी वीर विक्रम गति से चलकर अपने जमी-जमायी गिरस्ती के अंदर चली गई।

मौसा जी आरामकुर्सी पर आंख मूंदकर बैठे थे। मैंने उन्हें आराम करने दिया और जल्द ही वहां से उठ गया।

वह दृश्य किसे अच्छा लगता है—यह देखना कि अपना दस्तखत देने को झिझक रहा बूढ़ा जी-जान से अपनी लड़की से जूझ रहा है। बूढ़ा खुद अपना अंगरक्षक है। उससे जबरदस्ती दस्तखत कराने वाले इस दृश्य की नायिका खुद उसी की लड़की। बीच में दखल देने वाला मैं कौन होता हूं?

मैं भी बिना अपने को जताये क्या सोच रहा हूं इसी सोच में डूब गया। दरअसल हम किसी के कुछ नहीं। मेरी पत्नी शेफाली काफी समय से मलेरिया से पीड़ित है। मेटाकालसिन लेती है। एक दिन वह दवा खाकर लेटी ही थी तो मैंने उससे कहा—"हम कोई किसी के कुछ नहीं लगते।"

उसके सिर में दर्द था। कुछ दिन पहले बुखार उतरा था। शेफाली चिहुंककर बोली, "यह भी कोई कहने की बात है। तुम्हारे सलूक से साफ़ जाहिर है मैं तुम्हारी कोई नहीं।"

मैंने बात बनाने और उसे मनाने की कोशिश की। शेफाली का सिर दबाया, पैर दबाये, लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ।

यह सब तरह-तरह की चिंता में डूबते-उतराते थोड़ी-थोड़ी देर बाद मौसा जी की असहाय सूरत मेरे सामने बड़ी दिखाई पड़ने लगी। उनकी सूरत में कोई भाव नहीं, सिर्फ माथे पर बालों का गुच्छा ही नजर आता।

दूसरे दिन मिनी बस में सवार हावड़ा से आंदूल जा रहा था। पहले वाले बंगाली बाबू ब्रिज से अब जो दो साल का है, मैदान और हावड़ा स्टेशन को जोड़कर सीमेंट की ढलाई से बना है, एक बड़े-से आमपापड़ जैसा लगता है। मिनी बस आगे बढ़ रही थी। मैंने देखा कि मौसा जी स्टेशन के गेट से निकल रहे हैं। सुबह का वक्त था, व्हील चेयर पर—पीछे चार कुली। उनके पीछे लतु दी और उनका छोटा बेटा। उनके पीछे था 6 नंबर प्लेटफार्म जहां से शायद कालका मेल छूटती है। मैं उतर पड़ा।

एकदम फैमिली अलबम, ब्रिज के ऊपर ही कोहरे के भीतर जीजा जी की ऐम्बेसेडर कार खड़ी थी।

"क्या बात है?"

लतु दी मुझे देखकर हंसी और बोली, "अरे, कुछ नहीं।" यह कहकर झेंपती हुई

बोली, "पिताजी को रेल दिखाने उस साइड से घुसकर इस तरफ निकल रही हूं।"

मौसा जी कोई बच्चे नहीं, जिन्हें ट्रेन दिखाई जाये। फिर भी यह देखकर अच्छा लगा कि नब्बे के पेटे वाले बूढ़े को उनकी लड़की रेल दिखाकर उनकी आस मिटा रही है। चार कुली किराये पर ट्रेन वाली व्हील चेयर थामे खड़े थे।

"अरे मौसा जी, कैसा लग रहा है?" मैंने खुशी से ही जानना चाहा। मौसाजी मुझे देखने लगे। उनकी नजर कहीं दूर टंगी थी। मेरी ओर उन्होंने मुंह उठाकर देखा, लेकिन पहचान नहीं पाये। उनकी नजर में सिर्फ खालीपन था। ज्यादा आनंद या उल्लास का उन्माद होने से इंसान सब कुछ भूल जाता है, शायद मौसा जी की भी यही हालत हो गई है।

एक महीने के बाद सुबह का अखबार देख रहा था। दूसरे पन्ने पर पुलिस द्वारा निकाला गया एक विज्ञापन देखकर उछल पड़ा। कपड़े पहन कर मैं सीधे लतु दी के घर पहुंचा।

"क्या बात है? यह किस चीज़ का विज्ञापन है?" लतु दी पेपर की तरफ देखे बिना बोली, "ठीक ही हुआ। हम लोग उन्हें कालका मेल में चढ़ाकर आये थे। यह तय था कि दिल्ली में अमृत दा आकर पिताजी को उतार लेंगे। कालका जाने से पहले दिल्ली में काफी देर तक ट्रेन ठहरती है।"

"अमृत दा कौन है?"

"तू नहीं पहचानेगा। हम लोग जब राइसीना में रहते थे तब वह मां को मां कहकर पुकारता था, पिताजी को पिताजी। बिलकुल अपने बेटे की तरह हो गया था वह। यानी अमृत दा।"

"वह तो काफी पहले की बात है।"

"हां, रिश्तेदारी तो बहुत दिन की थी। पिताजी जगह बदलना चाहते थे। सोचा, अमृत दा के यहां से घूम आयें तो जी बहल जायेगा। कौन जानता था वह बीच में ही किसी स्टेशन पर उतर जायेंगे।"

मैं चौंक पड़ा, यह क्या? जो इंसान सब कुछ भूल गया है, उसे अकेले मेल ट्रेन में कैसे बैठा दिया?

"अमृत दा की चिट्ठी मिलने तक पिताजी वहां नहीं पहुंचे तो हम लोगों ने पुलिस को खबर कर दी। पुलिस ने हमसे तस्वीर लेकर ही अखबार में विज्ञापन दिया—कालका मेल से लापता ..."

"अच्छा, तुम्हारे पिताजी ने दस्तखत कर दिया था?"

"वह तो कब का कर दिया था। जब एक दिन सुबह व्हील चेयर पर बेहोश देखा था, तभी दस्तखत कर दिया था।

मैं फिर बोला, "ओहो।"

आज भी मुझे नहीं मालूम, सचमुच ही अमृत दा नाम का कोई आदमी था भी या

नहीं। आज तक नहीं पता, जिस दिन मौसा को प्लेटफार्म पर व्हील चेयर पर देखा था उस दिन ही कालका मेल में चढ़ाने की कोशिश की गई थी या नहीं? आज तक यह भी पता नहीं चला कि जिसकी नजर खोई रहती थी, वह इंसान जो सब भूल चुका था वह जीवित है या मृत? इस विशाल भारतवर्ष के किस कोने में मौसा हैं? झांसी में, टुंडला में? मैं और गूलर का यह पेड़, दोनों यहां वैसे ही खड़े हुए हैं, इन्हीं सवालों के साथ। □

अनुवादक : डॉ. रणजीत साहा

एक सहपाठी दिल्ली में

रामदरश मिश्र

रामदरश मिश्र की रचनाओं में संवेदनहीन शहरी जीवन के लिए चिंता और अजनबीपन के भाव पर प्रहार होता है। तथाकथित महान साहित्यकार सुकांत के दिखावटी व्यवहार का खोखलापन उसके सहपाठी उमानाथ को बहुत कुछ सोचने के लिए बाध्य करता है। महानता महान कार्य करने में है अथवा उसका अभिनय करने में!

जाड़े की शाम रात में बदल रही थी। मैं अपने कमरे में रजाई में दुबका हुआ कुछ पढ़ रहा था। दरवाजे पर खटखटाहट हुई।

"चले आइए, खुला है।"

एक आदमी अंदर आकर मेरे सामने खड़ा हो गया। जाड़े के कपड़ों से लैस था और कंटोप लगाये था। आते ही पूछा—"आप मुझे पहचान रहे हैं?"

"हां, भाई उमानाथ, पहचानूंगा क्यों नहीं! यद्यपि आपने इस मंकीकैप से अपनी इंसानी शक्ल छिपाने की बड़ी कोशिश की है लेकिन ..."

"लेकिन क्या?"

"लेकिन आपकी विशेष आंखों की पहचान कैसे छिप सकती है।"

"थैंक गॉड, आपने पहचाना तो। मैं तो समझे था कि दिल्ली में जो भी आता है, अपनी पहचान तो भूल ही जाता है, दूसरों को पहचानना भी भूल जाता है।"

"अरे, बैठेंगे भी कि शिकायत ही करते रहेंगे। हां, यह हुई न बात। ... लेकिन बंधु, मेरे पास आते ही आपने दिल्ली का खटराग क्यों छेड़ दिया? दिल्ली इतनी बुरी तो नहीं है।"

"अरे, तौबा कीजिए, भाई साहब! यह भी कोई शहर है जहां आकर गांव की माला जपने वाले लोग अपना सारा अतीत ही भूल जाते हैं और गांव की सारी धूल झाड़कर शहरी चिकनाई में नहाने लगते हैं।"

"अरे भाई, देखो तो कौन आया है।" मैंने पत्नी को पुकारकर कहा।

पत्नी शायद चौके में थीं। आई।

"ओहो, उमानाथ भाई! नमस्कार। कब आये?"

"अरे, यहां तो सभी लोग मुझे पहचान रहे हैं। सोच रहा हूं आपका मकान दिल्ली में ही है या उससे बाहर।"

हम हंसे। पत्नी से कहा—"देखो, पहले उमानाथ को चाय पिलायो। शायद ठंडक से इनकी अक्ल बौंडिया रही है। गर्मी पाकर सहज होगी, तब बात होगी।"

फिर हंसी पड़ी।

पत्नी चाय लेकर आ गयीं, तब मैंने कहा—"हां, उमानाथ खाना भी हमारे साथ खायेंगे।"

"नहीं, बंधुवर, खाना तो मुझे वहीं खाना है जहां मैं ठहरा हुआ हूं। वे लोग मेरा इंतजार करेंगे। भाभी जी, बैठिए। इतने दिनों पर भेंट हुई है, कुछ बातचीत तो हो।"

पत्नी ने मेरी ओर देखा। "बैठ जाओ, भाई, खाना खाने से मतलब है, चाहे यहां खायें, चाहे वहां।"

पत्नी बैठ गयी। चाय-पान शुरू हुआ तो मैंने कहा—"हां, अब जबान कुछ सहज हुई होगी। बोलो, क्या बात हुई है दिल्ली के साथ कि इतने उद्विग्न हो उठे हो?"

"मत पूछो, बंधु, मैं कवि आलोचक सुकांत जी के यहां गया। मन में बड़ा हुलास था कि इतने दिनों बाद अपने सहपाठी मित्र से मुलाकात होगी लेकिन ..."

"लेकिन क्या?"

"मैं गया और कॉलबेल बजायी तो एक लड़की निकली। वह उनकी बेटी थी।

"सुकांत जी हैं?" मैंने पूछा।

उसने बहुत सकुचाते हुए कहा—"देखती हूं। आप कौन?"

"यदि हों तो कह दीजिए कि रामपुर से आपके सहपाठी दोस्त उमानाथ राय आये हैं।"

वह चली गयी तो मैंने सोचा कि यह कौन-सी भाषा है भाई—"देखती हूं?" अरे, या तो हैं या नहीं हैं। कौन-सा महल है कि उनके होने या न होने का पता नहीं है। मुझे लग गया कि सुकांत जी ने यह शैली सिखाई होगी।

मुझे हंसी आ गयी। बोला—"यह गृह-शैली तो सुकांत जी की साहित्य-शैली के अनुकूल ही है। इसमें आश्चर्य की क्या बात है?"

"हां, लेकिन जब पढ़ते थे तब तो वे इस शैली के नहीं थे। अभी-अभी उनका एक

लेख पढ़ा था जिसमें उन्होंने तुलसीदास को इसलिए विश्व का श्रेष्ठ कवि माना है कि वे बहुत सहज कवि हैं। उनमें जीवन की सादगी एवं सहजता है। इसी क्रम में उन्होंने आधुनिक काल के कई ऐसे कवियों की प्रशंसा की है जिनकी कविताओं में संवेदना और अभिव्यक्ति की सादगी तथा सहजता है।"

मैं मुस्कराया।

"क्यों, मुस्करा क्यों रहे हो?"

"लगता है तुमने इधर उनकी कविताएं नहीं पढ़ीं।"

"नहीं, मैं इधर की कविताएं पढ़ नहीं पाता। मुझे लगता है कि उनमें फंस गया हूं और उनसे निकलने पर किसी तृप्ति का नहीं, मुक्ति का अहसास होता है।"

"तो जान लो कि सुकांत जी की कविताएं इन्हीं कविताओं के बीच की हैं। चूंकि इधर के अच्छे कवियों में उनकी शुमार होती है इसलिए यह भी कह सकते हो कि उनकी कविताएं इन कविताओं की अग्रणी हैं—आदर्श भी।"

"लेकिन उन्होंने अपने उसी लेख में यह दावा किया है कि वे गांव से आये गांव के कवि हैं। इसलिए कविताओं में ठेठ ग्राम-जीवन की सादगी और खुरदरापन उन्हें पसंद है।"

"हां, कहते तो वे यही हैं—खासकर जब उन्हें अपने इस गुण वाले कुछ खास कवियों के पक्ष में लिखना-बोलना होता है किन्तु अब वे ग्राम-मानसिकता के न कवि रहे, न व्यक्ति। उन्होंने तो अपनी कविताओं में आधुनिकतावाद के सारे जटिल मुहावरों को बटोरा है और गंवई रंग की कलई चढ़ाकर उन्हें ऐसा पेश किया है कि लोग समझते रहें कि इसकी मूल संवेदना क्या है? इससे इन्हें फिलहाल बहुत फायदा पहुंचा है। इनके समर्थक इन कविताओं में जो छवि चाहे देख लेते हैं। जैसी चाहे व्याख्या कर लेते हैं।"

"इनके समर्थक? कौन लोग हैं ये?"

"देखो, समर्थक होने के लिए जरूरी नहीं कि हमें किसी की कोई चीज़ पसंद ही आये। यहां कुछ वैचारिक दल बने हुए हैं। उस दल के लोगों के लिए यह जरूरी हो जाता है कि अपने बीच के यशस्वी हो उठने वाले व्यक्ति की हर बात की प्रशंसा करें—समझें या न समझें। दूसरी बात यह है कि सामान्यतः लोग उन लोगों से जुड़ना चाहते हैं जिनका पत्र-पत्रिकाओं, आलोचनाओं, पुरस्कार-निर्णयों, सरकारी, अर्ध्दसरकारी साहित्यिक संस्थाओं में दलीय और निजी वर्चस्व हो। वह यह वर्चस्व साहित्यिक साधना से नहीं पाता, उसे अन्य प्रकार की कई साधनाएं करनी पड़ती हैं। सुकांत जी ने इस प्रकार की लंबी साधना की है। नये लेखक भी उन्हीं से जुड़ते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि चर्चा यहीं जुड़ने से होगी, छोटे मोटे पुरस्कार यहीं से प्राप्त होंगे। वे भी 'सुकांत जी' किए रहते हैं। वे अब लाभप्रद समीकरणों से मिलते हैं या अपने अनुयायियों को दर्शन देते हैं।"

"हां, समझा, लेकिन पहले ही समझ गया होता तो उनके यहां जाता ही क्यों?"

"लीजिए, हम लोग तो सुकांत जी के साहित्य में उलझ गये। वह कहानी तो रह ही गयी जिसे तुम कह रहे थे।"

"अरे भाई, सुकांत जी के साहित्य में उलझने के सिवा और क्या हो सकता है?"

हम हंसे। मैं फिर बोला—"हां, सुनाओ यार!"

"तो सुनो, वह लड़की अंदर गयी। शायद सुकांत जी अपने अध्ययन कक्ष में कुछ लिख-पढ़ रहे थे। वह बोली—"पापा जी, कोई उमानाथ जी आये हैं?"

"कौन हैं? कहां से आये हैं?"

"रामपुर से आये हैं।"

"मैं इस नाम के किसी आदमी को नहीं जानता।"

"वे कहते हैं कि वे आपके सहपाठी हैं।"

"मेरे सहपाठी! अच्छा, उन्हें बैठाओ, मैं आता हूं।"

"क्या ये संवाद आप सुन रहे थे?" मैंने पूछा।

"हां, ड्राइंग रूम और उनके अध्ययन कक्ष के बीच एक झरोखा है। उसी में से आवाज आ रही थी। और इतने बड़े साहित्यकार को क्या चिंता कि कोई उनकी बात सुन रहा है कि नहीं और खासतौर पर जब कोई गांव से आया हो तथा सामान्य व्यक्ति हो।"

"हां तो, फिर?"

"आधा घंटा बैठा रहा। बेटी चाय रख गयी थी। पीने की इच्छा नहीं हो रही थी। फिर वे सज-धजकर निकले। अपना याददाश्त पर ज़ोर देते हुए बोले—"अच्छा, अच्छा, आप हैं उमानाथ जी। मैं कहूं कि कौन है रामपुर से। माफ करना भाई, एक ज़रूरी लेख लिख रहा था, इसे कल ही देना है। अभी पूरा नहीं हुआ है। छोड़कर आया हूं।"

"ठीक है ठीक भई, आप इतने बड़े साहित्यकार हो गये हैं, व्यस्त तो होंगे ही। आपके हम सहपाठियों को गर्व है आप पर। वैसे कौन-सा लेख लिख रहे थे।"

"अरे, कुछ अच्छा-सा नाम है उसका। हां, याद आया—'साहित्य और मनुष्यता'।"

"हां, विषय तो बहुत अच्छा है। आपको याद है सुकांत भाई, जब मैं आपको अपनी साइकिल के पीछे बैठाकर घुमाता था। कभी सिनेमा जा रहे हैं, कभी बाजार जा रहे हैं, कभी शहर से निकलकर प्रकृति के विस्तार में पहुंच जा रहे हैं। उन दिनों आपने प्रकृति पर कितनी सुंदर कविताएं लिखी थीं।"

"अरे, हां आंआं ... अरे, वे दिन अब कितने पीछे छूट गये। उन्हें याद करके क्या करेंगे?"

मुझे लगने लगा था कि संवाद नहीं बन पा रहा है लेकिन एकाएक उठ जाना भी तो अभद्रता होती। इसलिए कुछ ऐसे ही सवालों के सहारे थोड़ा और बैठा रहा।

बीच में एक फोन आ गया। वे उसे सुनने के लिए अपने अध्ययन कक्ष में गये।

वहां से लौटे तो बोले—"माफ करना, उमानाथ भाई, संपादक का फोन था। मुझे वह लेख पूरा करना है। फिर किसी दिन फुरसत में आइए तो ढेर सारी बातें करेंगे।" वे उठ खड़े हुए।

मुझे क्रोध आ गया। बोला—"तो रामपुर से फुरसत में आपसे बात करने आऊंगा। आज आ गया, यही सबसे बड़ी गलती की।"

मैं झटके से निकल आया और अनुताप में जलता हुआ एक पार्क में बैठ गया। कुछ देर तक वहां की हवा, पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों से मौन संवाद करता रहा। धीरे-धीरे प्रकृतिस्थ हुआ तो सोचा, चलकर अब बस पकड़ूं। स्टैंड पर खड़ा हो गया। थोड़ी देर बाद देखा कि सुकांत जी एक सुंदरी के साथ उसकी कार में बैठे हुए चले जा रहे हैं। हमारी नजरें मिलीं। मैं मुसकराया और सोचा—शायद अपना लेख पूरा करने जा रहे हैं।

हम सभी ठठाकर हंस पड़े। हंसते रहे। हंसी थमी तो मैं बोला—"वाह उमानाथ भाई, क्या उनका लेख पूरा कराया है। दरअसल सुरा और सुंदरी दो महती प्रेरणाएं हैं साहित्य की। दोनों साथ मिल जाएं तो महान साहित्य बनने और लेख पूरा होने में कसर कैसे रह सकती है?"

"तभी ... तभी।" पत्नी बोलीं।

"क्या तभी तभी, भाभी जी।"

"तभी तुम्हारे ये भाई साहब बड़े साहित्यकार नहीं बन सके।"

"अरे भाभी जी, आप गलत कह रही हैं। भाई साहब का साहित्य श्रेष्ठ है, भले ही उसका डंका न बजाया गया हो।"

"लेकिन सुरा और सुंदरी?"

"इस रहस्य को रहस्य ही रहने दें तो बेहतर हो।" कहकर उमानाथ शरारत से मुसकराया और मैंने उसकी पीठ पर धौल जमाते हुए कहा—"साला, इतने दिनों पर मिला है, घर में झगड़ा कराने के लिए?"

"अच्छा, भाई राहुल, यह तो बताओ कि सुकांत जी के साथ सुंदरी कौन थी?"

"अरे भाई, अब मुझे क्या पता कि कौन-सी थी।"

एक अट्टहास पड़ा।

"अच्छा भाई! तुम्हारे साथ बैठकर कितना अच्छा लगा। लगा कि हम कुछ देर के लिए अपने उन बीते प्यारे दिनों में लौट गये हैं। अब चलते हैं, दोस्त। पता नहीं फिर कब मिलना हो? मिलना भी हो कि नहीं?"

जाते-जाते उमानाथ मुझे आर्द्र कर गया। वह जा रहा था और मैं भीगी आंखों से उसको जाता देख रहा था। □

'और इस लड़ाई में मुझे ही आहत होना है'

(स्व. श्रीकांत वर्मा की सृजन-यात्रा के आयाम)

गंगाप्रसाद विमल

श्रीकांत वर्मा के पांव राजनीति और साहित्य—दोनों जमीनों में गहरे धंसे थे। उनसे बात करते हुए यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता था कि श्रीकांत केवल शब्दों, किताबों, लेखकों, बहसों से जुड़े नहीं थे बल्कि उनके विचारों का केंद्र आदमी था, वह आदमी जो दुनिया के केंद्र में था। प्रतिष्ठित कथाकार, कवि तथा हिंदी निदेशालय के निदेशक डॉ. गंगाप्रसाद विमल से, उनके जीवन के अंतिम क्षणों में की गयी बातचीत, साहित्य से जुड़े अनेक मुद्‌दों पर— उनकी बेबाक राय को तो सामने लाती ही है, साथ ही उनकी साहित्यिक यात्रा को साक्षात् करती है।

श्रीकांत वर्मा हिंदी के उन विरल कवियों में एक हैं जिन्होंने अपनी नितांत अलग छवि स्थापित की है। 1960 से कुछ पूर्व ही वे अचानक एक विवादास्पद लेखक के रूप में उभरे थे। अपने ही समकालीनों से उनकी कविता न केवल एकदम अलग थी बल्कि उनकी कवि की यह मुद्रा प्रचलित काव्य परंपरा में एक किस्म का हस्तक्षेप थी। उनकी कविता खुद में एक नई परंपरा का सूत्रपात करती है जो न अतीत की काव्य परंपरा का निषेध करती है, न उसका स्वीकार। वस्तुतः श्रीकांत वर्मा का काव्य-कर्म हिंदी काव्य भाषा को नये आयामों से समृद्ध करने का कर्म था।

श्रीकांत वर्मा के प्रथम संकलन 'भटका मेघ' से 'मगध' तक की यात्रा सिद्ध करती

है कि उनका सृजन गहरी मानवीय जिज्ञासा से संबद्ध है। इसी संदर्भ में स्पष्ट है कि वे अपने समकालीनों से भी एकदम अलग हैं। अगली पांत के सशक्त प्रयोगात्मक लेखन के सम्मुख अपनी ही प्रवृत्ति की कविता लिखने का अर्थ था कि अनेक चुनौतियों का सामना करना। मुक्तिबोध और श्रीकांत वर्मा ही दो ऐसे कवि हैं जो अपनी जमीन में दृढ़ रहकर चुनौतियों का सामना करते हुए कविताएं रचते रहे। अधिसंख्य कवि नयी कविता की प्रवृत्ति का ही अनुगमन करते रहे, जबकि नयी कविता का अपना ही सृजनात्मक प्रारूप था।

श्रीकांत वर्मा की कविताएं आधुनिक समाज पर पड़े अत्यंत जटिल प्रभाव की कविताएं हैं। इसी प्रसंग में श्रीकांत वर्मा को आधुनिकों में अत्याधुनिक कवि मानना पड़ेगा।

मध्य प्रदेश के बिलासपुर में 1931 में जन्मे श्रीकांत वर्मा ने अपना लेखन एक स्कूली हस्तलिखित पत्रिका से आरंभ किया था, जो बाद में 'नयी दिशा' नामक साहित्यिक पत्रिका के रूप में प्रौढ़ रूप में उभरकर आया। यह पत्रिका साहित्य में नये स्वर की प्रखरतम प्रवक्ता के रूप में विख्यात हुई। बाद में वे दिल्ली में आकर बसे और वर्षों तक एक क्रियाशील पत्रकार के रूप में कार्यरत रहे। यहां उन्होंने 'भारतीय श्रमिक' के सह संपादक के रूप में कार्यारम्भ किया, जो 'इंटक' (भारतीय मजदूर कांग्रेस) की पत्रिका थी। वास्तव में यह उनके राजनैतिक झुकाव की संकेतक वृत्ति थी। इसी समय उन्होंने कृति पत्रिका का प्रकाशन और संपादन किया, जिसने अपने समय के नये हिंदी लेखन को शक्ति और सक्रियता प्रदान की थी। 'कृति' पत्रिका के ऐतिहासिक अवदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस पत्रिका ने विख्यात हिंदी लेखकों एवं विचारकों को एक स्तरीय मंच प्रदान किया। यह वह समय था जब दिल्ली उन बुजुर्ग और स्थापित लेखकों का नगर और केंद्र था जिन्हें आधुनिकता से चिढ़ थी।

एक गद्य लेखक के रूप में श्रीकांत वर्मा ने कुछ बेजोड़ कहानियां लिखी हैं। एक कवि और गद्य लेखक के रूप में उन्होंने हिंदी को समृद्धि भरा स्फूर्तिदायी संस्पर्श दिया। उन्होंने समाज और साहित्य के अंतर्संबंधों की व्याख्या करने के लिए सृजनात्मक और विवरणात्मक विधि का प्रयोग किया। उनका गद्य-संग्रह 'जिरह' और यूरोप के अध्ययन से संबंधित 'अपोलो का रथ' हिंदी गद्य में महत्तम स्थान रखते हैं। उनके जीवनकाल में लगभग आधे दर्जन कविता संकलन, पांच कहानी-संग्रह, दो उपन्यास और अन्य अनेक पुस्तकों के साथ वोज्नेसेंस्की की कविताओं के अनुवाद की एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई है।

लेखकों और आलोचकों ने श्रीकांत वर्मा के राजनैतिक विचारों पर जमकर हमले किए हैं। कुछ बरसों तक वे इस तरह राजनीति में आबद्ध रहे कि लोगों ने अनुमान लगाया कि वे साहित्य की दुनिया से संन्यास ले चुके हैं। और तब सहसा उनके सद्य काव्य संकलन 'मगध' का प्रकाशन जैसे उनकी ओर की यह घोषणा कि वे फिर साहित्य की ओर लौट आए। एक बार फिर उनकी कविताओं ने हिंदी के साहित्यिक एवं बौद्धिक माहौल में हलचल मचानी आरंभ की। वास्तव में ऐसी हलचलें मचाना वर्मा के साहित्यिक अवदान की विशेषता है।

कांग्रेस के महासचिव पद पर काम करते हुए श्रीकांत वर्मा ने कांग्रेस में बौद्धिकता का प्रवेश कराने की भरसक कोशिश की थी। यह प्रक्रिया जारी थी और इसका प्रमाण है पार्टी के चुनाव अभियान में नये अर्थवान नारों के जरिए जनता की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक ताकतों के बीच एकसूत्रता को संभव कर दिखाना।

श्रीकांत जी की श्रीमती गांधी में गहरी आस्था थी। यही कारण था कि व्यक्तिगत रूप से स्वीकृति न देते हुए भी उन्होंने आपात्काल को समर्थन दिया था। जनता काल में जब श्रीमती इंदिरा गांधी सत्ता से बाहर थीं, श्रीकांत वर्मा उनके साथ रहे। सत्ता के जुड़े रहकर भी उनके आलोचनात्मक विचार अभिव्यक्ति पाते रहे। गहराई से जांचने पर आप पायेंगे कि उनकी कविताएं उनके इसी आलोचनात्मक मानस की अभिव्यक्ति थीं। श्रीकांत वर्मा के पांव राजनीति और साहित्य दोनों जमीनों में गहरे में धंसे थे। उनसे बात करते हुए यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता था कि श्रीकांत केवल शब्दों, किताबों, लेखकों, बहसों से जुड़े नहीं थे बल्कि उनके विचारों का केंद्र आदमी था, वह आदमी जो दुनिया के केंद्र में था। कहना पड़ेगा कि लंबी-लंबी बहसें उनका एक प्राकृतिक अधिवास था। वे राजनीति और साहित्य के वैकल्पिक स्वरूप से भलीभांति परिचित थे। 1976 से वे राज्य सभा के सदस्य थे और वे भोपाल-स्थित भारत कला भवन के फाउंडिंग ट्रस्टी भी थे।

श्रीकांत वर्मा ने विश्वभर में भ्रमण किया। उनकी रचनाओं के अनेक भाषाओं में अनुवाद हुए। उन्होंने आयोवा, बर्कले, हाइडलबर्ग, हैम्बुर्ग और कनाडा में अनेक परिसंवादों में अपने निबंध पढ़े। आयोवा विश्वविद्यालय से वे विशेष रूप से जुड़े थे, जहां वे 'विजिटिंग कवि' के रूप में रहे।

जब वे मास्को और सोफिया में थे तो उनसे पूछा गया कि वे कविता और राजनीति में कैसे तालमेल बिठा पा रहे हैं? श्रीकांत का उत्तर था "मैं इस युद्ध में स्वयं से जूझ रहा हूं और इस लड़ाई में मुझे ही आहत होना है।"

कवि के रूप में कुछ बरसों की उनकी लंबी चुप्पी वास्तव में अपने देश की मुख्यधारा की राजनीति में उनकी सक्रियता थी और वे अपने सांस्कृतिक अतीत को भी खोज रहे थे। सहसा अपनी नयी, स्फूर्तिदायी कविताओं से उन्होंने लोगों को चकित किया। एक कूटनीतिज्ञ की तरह वे कहा करते थे, "हिंदी साहित्य में मेरा नाम आखिर बच ही गया।" उनका यकीन था कि "भारत में अवधारणा संपूर्णता की है कि कोई आदमी वैद्य भी है, कवि भी, संत भी और कुलीन भी।" इसलिए कोई कवि राजनीतिज्ञ भी हो तो इसमें नई बात क्या?

श्रीकांत वर्मा से 18 अप्रैल 1985 को हुई बातचीत, जो उन्हीं के घर पर हुई हालांकि अंग्रेजी में थी, का अविकल अनुवाद प्रस्तुत है।

विमल : अपनी उम्र के किस पड़ाव पर आपने कविता लिखनी आरंभ की? संभवतः

बुहत छोटी उम्र में?

श्रीकांत वर्मा : हां, बहुत छोटी उम्र में। मैं इसे ऐसे बताऊंगा कि छोटेपन से साहित्य में मेरा रुझान था। अपने घर बिलासपुर में तभी मैंने एक छोटा-सा पुस्तकालय भी बनाया था। मोहल्ले के किशोर आते और एक-दो आने देकर अच्छी किताबें पढ़ने के लिए ले जाते। मेरे पिता कई हिंदी पत्रिकाएं लाते, जिन्हें भी हम उस पुस्तकालय में शामिल कर लेते। उन्हीं दिनों मैंने शरतचंद्र और बंकिमचंद्र का साहित्य पढ़ा था। उस छोटी उम्र में ही।

स्कूल पास करने के बाद मेरे मन में कविता लिखने की तीव्र इच्छा थी, पर वे वैसी कविताएं थीं जिन्हें स्कूली किशोर लिखा करते थे। केवल तब जब 1952 में मैंने बी.ए. पास किया, मुझे स्टीफन स्पेंडर तथा टी. एस. इलियट आदि पढ़ने का मौका मिला। वे अज्ञेय द्वारा संपादित चार सप्तकों के हल्लागुल्ला वाले दिन थे। उस काल की बहसें जो पूर्व और पश्चिम या आधुनिक कविता और परंपरा या प्रचलन और नवोन्मेश पर केंद्रित होती थीं, मुझे बेहद आकर्षित करती थीं। तब तक कविता के बारे में मेरे विचार भिन्न थे। और तभी मैंने कविता की नयी जमीन तलाश की। वह एक कठिन भूमि थी जिस पर मैं चल पड़ा था। ऐलिस के विचित्र लोक की मानिंद। और तभी मेरे मन में विचार आया कि कविता का एक नया मुहावरा रचना चाहिए। एकदम एक नयी दुनिया। मेरा यकीन है कि जब तक कोई नया सृजन न करे, उसे लेखक मानना बहुत दुष्कर बात है। हरेक लेखक को नया रचना चाहिए, नये मुहावरे का सृजन करना ही है। मैं सोचता हूं सांप की केंचुल की तरह पुरानी चमड़ी को छोड़ना ही चाहिए और एक नया आवरण लेना ही चाहिए। कवि को अपने पुराने आवरण से बाहर आना ही होता है।

विमल : पर आप तो वामपंथ के प्रभाव में आए थे?

श्रीकांत वर्मा : हां, एक वामपंथी के रूप में मेरी शुरुआत हुई थी। राजनैतिक रूप से मैं वामपंथ के करीब रहा। जब मैं दिल्ली आया तो मैंने भारतीय मजदूर कांग्रेस के पत्र में काम किया। उन दिनों दिल्ली का मेरे लिए वही आकर्षण था जो यूरोप के चित्रकार के लिए पेरिस का था। तब दिल्ली में गेरटुड स्टाइन का अस्तित्व नहीं था। अब तो कई लघु रूप उपलब्ध हैं।

कवि के रूप में मुझ पर वामपंथ का असर था पर इससे भी अधिक असर पारिवारिक पृष्ठभूमि का था। हमारा परिवार कांग्रेसी परिवार था। मेरे पिता कांग्रेस कर्मी थे। पूरे जीवन वे एक अनुशासित पार्टी कार्यकर्ता रहे। वे दिन थे जब मैं खुद को एक मार्क्सवादी समझता था। मेरे तमाम दोस्त

मार्क्सवादी थे। 1960 तक मैं मार्क्सवाद में यकीन रखने वालों में रहा। पर तभी कुछ घटा। उस काल में पारम्परिक मार्क्सवादी विचारधारा को साहित्य की छड़ी के रूप में इस्तेमाल कर रहे थे। किंतु कई अच्छे प्रगतिशील लोग तभी उस आंदोलन से अलग हो गये।

विमल : पर आप तो नयी कविता लिख रहे थे। नयी कविता और प्रगतिशील कविता में कौन-सा मिलन-बिंदु खोजते थे आप?

श्रीकांत वर्मा : जैसा मैंने कहा मैं नयी कविता की ओर आकर्षित हुआ था। मैं आज भी नहीं मानता कि मार्क्सवादी और आधुनिकता या इस अर्थ में उत्तर आधुनिकता में कोई अंतर्विरोध है। मैंने महसूस किया कि नयी कविता एक तरह से भक्ति कविता के बाद जबर्दस्त क्रांतिकारी परिवर्तन से संपन्न थी। नयी कविता की आधारभूत चिंता आदमी थी। एक कवि मात्र गवाह नहीं था बल्कि हिस्सेदार की भांति था।

उन दिनों मध्य प्रदेश हिंदी क्षेत्र की सांस्कृतिक रूप से पिछड़ी बस्ती थी। मध्य-प्रदेश की तुलना में हिंदीतर क्षेत्र सांस्कृतिक रूप से जागृत थे। ऐसी परिस्थिति में स्वयं को अकेला महसूस करना नैसर्गिक भाव था। मुझे अपनी लड़ाई खुद ही लड़नी थी। अपने भावों को व्यक्त करने के लिए मैंने साहित्यिक पत्रिका 'नयी दिशा' आरंभ की थी। नयी दिशा को विचित्र स्वीकृति मिली, उन तमाम लोगों से जो नयी सोच के थे और कला व साहित्य में परंपराओं के निर्जीव व सड़ांध युक्त चिंतन के विरोध में थे। यह एक तरह का आमंत्रण था कि लड़ो, और मैं लड़ा।

पुरानों से लड़ाई के दौरान मैं कवि मुक्तिबोध के संपर्क में आया। मुझे उनके वय में बड़े होने का समर्थन मिला। हम दोनों के बीच एक रागात्मक संबंध स्थापित हुआ। उनमें मेरे व्यक्तित्व और मेरी कविता के प्रति जबर्दस्त रागभाव था। मैं नागपुर में उनके परिवार का एक सदस्य बन गया था। वहीं से मैंने बी.ए. किया। हम जब कभी साथ होते, केवल कविता की बातें करते। मैं कविताओं को लेकर पागल-सा था। किसी और चीज़ में रुचि ही नहीं थी। तब तक मैं काव्य सृजन की सिद्धि नहीं पा सका था। हालांकि कविता ही मेरा एकमात्र लगाव था। 1956 में मैंने तय किया कि दिल्ली जाऊंगा और साहित्य को प्रगति के मंच की तरह इस्तेमाल करूंगा।

विमल : मुक्तिबोध तो पक्के मार्क्सवादी थे। आप दोनों साथ कैसे चले?

श्रीकांत वर्मा : ठीक है। मुक्तिबोध मार्क्सवादी थे। और उन दिनों मैं भी था। तब भी जहां तक साहित्य का सवाल है, मुक्तिबोध का सोचना स्वतंत्र था। वे कठमुल्ले

मार्क्सवाद के विरोधी थे। इसी कारण वे रामविलास शर्मा के साथ विग्रह में आए। मेरे विचार से मार्क्सवाद को नुकसान पहुंचाने का काम जितना रामविलास ने किया, उतना किसी ने नहीं किया। अगर आप मार्क्सवाद को देश निकाला देना चाहते हो तो दस रामविलास शर्मा पैदा कर डालिए। जिस काम में मार्क्सवाद विरोधी विफल हो गये, ये लोग उसमें सफल नजर आएंगे। साहित्य और संस्कृति के बारे में मार्क्स और एंगल्स की धारणा कुछ इस प्रकार है : साहित्य एक व्यक्ति की परिशुद्ध सक्रियता का उत्पादन है, जो किसी विशेष समाज का सदस्य है और किसी विशेष परिस्थिति के सामने है। अधकचरे मार्क्सवादी पूंजीवदियों द्वारा बिछाई सुरंगों के शिकार हुए हैं। वे सोचते हैं कि साहित्य समूह के द्वारा गढ़ा जा सकता है। यह सच है कि अकसर प्रबल राजनैतिक आंदोलनों ने महान लेखक पैदा किए हैं। परंतु यह भी सच है कि महान संघर्षों ने दोयम दर्जे के सर्जक भी पैदा किए हैं। अधिकतर साहित्य एक आदमी के त्रास, एक आदमी के शोक, एक आदमी के आनंद का उत्पादन है जिसके लाखों लोग बाद में भागीदार होते हैं। क्या वजह है कि मार्क्सवादी बाल्जक के साहित्य को ज्यादा रुचि से पढ़ते हैं बजाय उस काल के क्रांतिकारी लेखकों की रचनाओं को। हर स्तर पर बाल्जाक ज्यादा क्रांतिकारी है।

विमल : आप राजनीति और कविता के क्षेत्र से पत्रकारिता के साथ कैसे समझौता कर पाये? आपने बताया कि आरंभ में आपने एक साहित्यिक पत्रिका चालू की थी। परंतु वर्षों से आप विशेष संवाददाता रहे। आप कैसे कर पाये यह?

श्रीकांत वर्मा : सार्त्र ने एक बार कहा था, "मैं किताबों के बीच जन्मा, किताबों के बीच ही मरूंगा।" वे सचमुच किताबों के बीच मरे। वे जीवन के अंतिम वर्षों में अंधे हो गए थे, परंतु किताबों से वे तब भी प्यार करते रहे। मैं अपने बारे में कह सकता हूं कि मैं एक कवि के रूप में प्रकट हुआ—एक कवि के रूप में ही मरूंगा। मैंने पहले भी बताया—कविता ही मेरा प्रमुख लगाव है। हालांकि मेरे दूसरे लगाव भी हैं। अपनी जीविका के लिए मैंने नापसंद काम भी किए। पत्रकारिता मैंने कभी पसंद नहीं की, हालांकि पत्रकारिता से मुझे बेहद फायदे पहुंचे। पत्रकारिता ने दुनिया के दरवाजे खोले, जैसी वह थी। यह नहीं कि जैसे हमने सपने लिये थे। मैं विश्वविद्यालय में नौकरी पा सकता था किंतु अध्यापक बस प्राचीन अवशेष भर हैं। वे जीवित लोग नहीं हैं क्योंकि वे ज्ञान में कुछ नया नहीं जोड़ रहे हैं।

विमल : आपकी राय में पत्रकारिता की चाह करने वाले नये पत्रकारों को क्या जानना चाहिए?

श्रीकांत वर्मा : मैं नये लोगों को राय देने वाला कौन हूं क्योंकि हरेक को अपने फैसले लेते होते हैं। परंतु उन्हें वर्तमान पत्रकारिता को बदलने की भरसक कोशिश करते रहना चाहिए, जो केवल चमक, यौनाकर्षण और सनसनीखेज को आमंत्रित करता है। ऐसा वे अपने पत्र जारी कर ही कर सकते हैं चाहे वह दो-चार पेज का साधारण अखबार ही क्यों न हो।

विमल : कलकत्ता में आपने एक बार कहा था कि पत्रिका छाप कर जारी रखनी चाहिए, भले ही चोरी करना पड़े।

श्रीकांत वर्मा : 'शब्दांश' मैं इसमें यकीन नहीं रखता। मेरा अर्थ यह था कि साहित्यिक पत्रिकाएं हर कीमत पर जीवित रखी जानी चाहिए। इसी से साहित्य बनता है।

विमल : क्या आप आज की राजनीति पर टिप्पणी करना चाहेंगे? क्योंकि पार्टी के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में आप गंभीर और सटीक वक्तव्य देते ही रहते हैं।

श्रीकांत वर्मा : जहां तक आज की राजनीति का सवाल है, अधिकांश मूल्यविहीन है। समकालीन भारतीय राजनीति में जो मानवीय संपदा है भी, उसमें न आदर्श है, न प्रतिबद्धता। इसलिए जो लोग मूल्यों के प्रति निष्ठा रखते हैं उन्हें राजनीति में अवश्य आना चाहिए। आखिरकार राजनीति में सामाजिक और आर्थिक बदलाव लाने का माध्यम भी राजनीति है। और इसी जरिए से जीवन के गुणधर्म में सुधार लाया जा सकता है। असल में जब तक हम राजनैतिक पद्धति नहीं बदलेंगे, कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। यही काम स्वर्गीय प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने 1969 में करना चाहा था। उन्होंने कांग्रेस के हिस्से किए और पार्टी को सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के आदर्शों के मुताबिक ढाला। जैसा मैं उन्हें समझा हूं, इंदिरा गांधी परिवर्तन की प्रबलतम संरक्षक थीं। 1978 में उन्होंने पार्टी के फिर से हिस्से किए ताकि वे अवसरवाद और बाड़ पर बैठे लोगों से मुक्ति पा सकें।

विमल : आपने तो अनेक वर्ष श्रीमती इंदिरा गांधी के साथ काम किया।

श्रीकांत वर्मा : हां, मैं इंदिरा जी से लगभग 20 वर्षों से जुड़ा हूं। मैं श्रीमती गांधी की कार्य-शैली से बहुत प्रभावित था। 1969 में श्रीमती गांधी काफी युवा थीं। उनके फैसलों के प्रभाव से मैं पूरी तरह परिचित था। उनकी राजनैतिक आदर्शवादिता से प्रभावित होकर मैं 1969 में ही सक्रिय राजनीति में आ गया। मैं राजनीति में पूर्ण तन्मयता से जुड़ गया और यह सच है कि कुछ बरसों के लिए साहित्य की मेरी चिंताएं कुछ पीछे जा पड़ीं और सबसे ऊपर

आ गई राजनीति। हालांकि मेरी रचनात्मकता कुंठित नहीं हुई थी। अपनी ही कविता से उदाहरण देना चाहूंगा—

'एक कवि कवि ही रहता है
क्योंकि उसे कवि ही रहना है।'

विमल : क्या आप बीच-बीच में कविताएं लिखते रहे हैं या यह सतत प्रक्रिया है?

श्रीकांत वर्मा : मुझे कहना चाहिए कि मैं तो सदा ही लिखता रहा। अपने राजनैतिक कर्म के 18 वर्षों की सक्रियता के बीच इस बात का उत्तर पाना कठिन है कि मैं कविताएं कैसे लिख पाया। सिर्फ कविताएं ही नहीं बल्कि कथाएं, लघु उपन्यास, कहानियां, यहां तक कि आलोचनात्मक गद्य और बहुतेरी अन्य चीज़ें भी। विश्वास दिलाने का उत्तर तो इतना ही है कि आदमी की अनेक भूमिकाएं हैं जो निभानी पड़ती हैं। हमारे पूर्वजों की मान्यता थी कि मनुष्य को एक समग्र व्यक्तित्व के रूप में विकसित होना चाहिए। मैं भी किसी तरह यकीन रखता हूं कि मुझे एक नहीं अनेक भूमिकाएं निभानी हैं पर यह जरूरी नहीं कि इस बात को लेकर दूसरे लोग मुझसे सहमत हों।

विमल : आपके हाल ही में इलस्ट्रेटेड वीकली, न्यूयार्क टाइम्स और दूसरे साक्षात्कारों के बारे में मुझे मालूम है। आपने कई सवालों के जबर्दस्त जवाब दिए हैं। क्या अब आप अपने नये संग्रह 'मगध' के बारे में कोई टिप्पणी कर सकते हैं?

श्रीकांत वर्मा : मैंने कविता और साहित्य के अनेक प्रश्नों के उत्तर दिए हैं। 'मगध' के बारे में भी मैं अपनी ही पंक्तियां उद्धृत करना चाहूंगा—

बन्धुओ
यह वह मगध नहीं
तुमने जिसे पढ़ा है
किताबों में,
जिसे तुम
मेरी तरह गँवा / चुके हो।

विमल : अपने आलोचकों के बारे में आपके क्या ख़्याल हैं?

श्रीकांत वर्मा : उन्हें मेरी आलोचना करने की स्वतंत्रता है और मुझे उनसे असहमत होने की आज़ादी है। मगध के बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण टिप्पणी कलाकार रज़ा से मिली है, जो पेरिस में रहते हैं। पढ़कर उन्होंने मेरे मित्र अशोक वाजपेयी को पत्र लिखा : "मैं मगध पढ़ रहा हूं। मगध, पहले मैंने सोचा था यह कवि

की कल्पना का प्रजातंत्र है। फिर मैंने सोचा यह श्रीकांत वर्मा का गांव है। जब मैंने मानचित्र देखा तो पाया कि यह प्राचीन साम्राज्य है, जो अब अस्तित्व में नहीं है। श्रीकांत वर्मा ने उसके बारे में जो लिखा है ही नहीं और शायद कभी जीवित नहीं होगा।''

मैं सोचता हूं रज़ा ने मेरी कविता के विषय को ठीक से पकड़ा है। विषय 'काल' है, जिसका अंग्रेजी में कोई समान शब्द नहीं है। सबसे निकट जो अर्थ को ध्वनित करता है, वह मृत्यु है। □

बादल बाबा

रमानाथ अवस्थी

रमानाथ अवस्थी के गीतों की सौंधी गंध से हिंदी साहित्य का पाठक भली-भांति परिचित है। उन्होंने अपने गीतों के माध्यम से जीवन के राग-विराग को सामने रखा है। परन्तु उन्होंने रचनात्मक गद्य भी लिखा है। बादल बाबा पर लिखा उनका संस्मरण उनके गीतों की गंध जैसा ही है। साधन-संपन्न युग से गायब होते जा रहे आचार-संपन्न, भावना-संपन्न तथा रुचि-संपन्न मानव के लिए उनकी चिंता सहज है।

उन्हें लोग बादल बाबा कहते थे। गांव की बात है, लगभग पैंतालीस वर्ष पहले मैं करीब-करीब किशोरावस्था पार कर चुका था। बादल बाबा नियमपूर्वक हर गुरुवार को हमारे गांव से गुजरते थे। गुजरते इसलिए लिख रहा हूं, क्योंकि वे कहीं रुकते नहीं थे, कभी जोर-जोर से, कभी बहुत धीरे-धीरे चलते और कभी-कभी एक जगह नाचते हुए आकाश की तरफ देख-देखकर गाते थे। जो कुछ वे गाते थे, उसके शब्द तो मेरे पास नहीं हैं, लेकिन उनके गायन में एक अद्भुत आकर्षण था। गांव के लोग जिनमें बच्चे और महिलाएं सभी होते थे, बाबा के साथ-साथ तब तक रहते थे, जब तक वे गांव से कुछ दूर नहीं निकल जाते थे।

बाबा आधे पैरों तक लटकी धोती बांधते थे, बारहों महीने उनका कमर से ऊपर का शरीर बिल्कुल निर्वसन होता था। उनके कंधे पर एक अधारी (गांव के पुराने लोग कंधे पर कपड़े की बनी एक ऐसी चीज़ लटकाते थे, जिसके दोनों ओर झोले जैसे आकार की दो बड़ी थैलियां आगे-पीछे लटकती थीं) भर पड़ी रहती थी। बाबा आटे के अलावा किसी

से कुछ भी नहीं स्वीकार करते थे। आटा भी आप उन्हें एक अंजुरी से अधिक नहीं दे सकते थे। उससे ज्यादा वे एक व्यक्ति से स्वीकार नहीं करते थे। उनके पैरों में मैंने कभी जूते नहीं देखे। उनकी गठी हुई देहयष्टि, सांवला मगर खुला वर्ण, चौड़ा मस्तक, बड़ी ही तेजस्वी आंखें और भरा-भरा भोला मुख सबको बरबस आकर्षित करता था। मैं तब तो था छोटा ही, मगर बाबा को देखकर सदैव सोचता था—काश, मैं अधिक-से-अधिक उनके निकट रहता, उनके जाने के बाद मैं अकसर थोड़ा बेचैन जैसा रहता था। गांव के लोग उनसे तरह-तरह के सवाल पूछते थे। वे अपने गायन के जरिये ही उन सवालों का उत्तर देते थे। मान लीजिए, उनसे किसी ने कहा, 'बाबा, लड़की सयानी हो गयी है, शादी के लिए लड़का नहीं तय होता, मारे-मारे घूम रहे हैं, कुछ बताइये, बाबा अपनी गायन शैली में कुछ-कुछ इस तरह बोलते थे, 'एक महीने कुछ मत बोल, घर में रह, बाहर मत डोल। फिर सब कुछ हो जायेगा, जो चाहेगा पायेगा।' किसी ने कहा, 'बाबा, खेत सूख रहे हैं, पानी बरसाओ, तालाब भी सूख गया' बाबा कहते, 'बरसेगा पानी बरसेगा, बादल खुद आयेगा, पानी बरसेगा, अगले सोमवार तक चुप-चुप रहना।'

आपको भी मेरी तरह कुछ आश्चर्य जैसा ही लगेगा। बाबा के मुंह से जो निकलता था, वह सब कुछ पूरा ही होता था। उस समय के लोगों की बहुत-सी छोटी-छोटी सहज और स्वाभाविक इच्छाएं या मनौतियां ही होती थीं। बाबा को हमारे ही क्या, उस सारे क्षेत्र के लोग देवता की तरह मानते थे, अगर उन्होंने कहा कि सोमवार तक चुप-चुप रहना, तो चाहे जो मौसम हो, पानी बरसेगा ही और उसी दिन, जिस दिन का नाम बाबा की जबान से निकलता था।

हमारे गांव से गंगा दो कोस (तीन किलोमीटर) थी। बाबा वहीं एक मंदिर में रहते थे, मंदिर बहुत ही पुराना था। उसमें एक कोने में पत्थर के ऊपर रखी हनुमान जी की मूर्ति भर थी, मैं कभी-कभी अपने एक बालसखा (श्री छेदीलाल त्रिपाठी) के साथ बाबा के पास जाता था। अपनी दादी से बाबा के लिये पूड़ियां और खीर बनवाकर ले जाता था। दादी स्वयं बाबा की भक्त थीं, अतः वे इस काम में गहरी रुचि लेती थीं, हम लोग प्रायः मंगलवार को जाते थे। बाबा उस दिन नहीं निकलते थे।

उनके चरण स्पर्श करके हम मंदिर में बैठ जाते। बाबा को भोजन भेंट करके कहते, 'दादी अम्मा ने भेजा है,' भोजन को इशारे से रखने को कहकर वे हमें देख-देखकर हल्के-हल्के मुस्कराते रहते। जब हम चलने के लिये आज्ञा मांगते तो प्रणाम के बदले कहते, 'आयुष्मान भव।' चलते समय वे हमें गुड़ की चार-पांच छोटी-छोटी डलियां जरूर देते थे, उन्हें हम लोग किसी पत्ते में लपेटकर ले आते थे, सबको बांटकर हम भी लेते थे।

इतने वर्ष बीत गये, मुझे आज अपने आड़े समय में बाबा का ध्यान आता है। उनका ध्यान आते ही मुझे गांव, वहां के लोग, उस समय के बाग-बगीचे और वे गलियां-गलियारे

याद आते हैं, जिनके साथ जीवन-यात्रा शुरू हुई थी। इस यात्रा में बहुत कुछ मिला, बहुत कुछ खो गया, जाने कितने बड़े-बड़े लोगों और साधु-संन्यासियों के दर्शन और संपर्क का सौभाग्य मिला। मगर सच कहूं तो मुझे अब तक लगता है कि बादल बाबा जैसा मुझे फिर कोई और नहीं मिला। बड़े-बड़े मंदिरों में भी पहुंचा, लेकिन बादल बाबा के उस पुराने मंदिर वाली शांति न मिली। बहुत कुछ खाने को मिला, मगर बाबा की गुड़ की डली का आनन्द आज भी बेजोड़ है।

सवाल मात्र एक है—सब कुछ आज पहले से अधिक दर्शनीय और ठाठदार है, मगर आज के इस उन्नत और संपन्न युग में वह कौन-सा तत्त्व गायब है, जो हमें अब किसी बादल बाबा जैसे सहज साधु से दूर करता है? अब तो साधुओं और साधकों के अखाड़े इतने बीहड़ हैं, जिनमें हमारे जैसे लोगों के लिए शायद कोई जगह ही नहीं है। वहां केवल उन लोगों के लिए जगह है, जो दुनियावी तौर से संपन्न हैं या फिर वे जो अपनी अमीरी के लिए गरीबी मिटा रहे हैं। आज भी आचारसंपन्न, भावनासंपन्न अथवा रुचिसंपन्न है, वह तो मात्र बेहद बेचारा है। इस बेचारगी का आलम दिनोंदिन खतरनाक होता जा रहा है और हम उन खतरों को मिटाने के बजाय खुद ही मिटते जा रहे हैं। □

मोहभंग

कुसुम अंसल

कई बार कुछ घटनाएं पूरी सोच को बदल देती हैं। इनके कारण कोई शहर या पूरी-की-की पूरी जाति के प्रति पूर्वाग्रह पैदा हो जाता है। बंबई में पहली बार अकेले जाने का साहस एक ऐसी दुर्घटना से साक्षात्कार करता है कि पूरी बंबई कचरा लगने लगती है। प्रसिद्ध कथाकार कुसुम अंसल की कलम से निकला यह अनुभव एक मोहभंग से परिचय कराता है।

अपनी यात्रा के मध्य अपने में शून्य हुई मैं, सोच रही थी कि मात्र एक टेलीफोन वार्तालाप के सहारे मैं इतना बड़ा निर्णय लेकर यों चली तो आई हूं ... और जहां जा रही हूं। वह स्थान, वह स्त्री, कर्मस्थल, सभी कुछ मेरे लिए अजनबी ही नहीं, भिन्न भी हैं—आखिर मेरे दुनियावी अनुभव हैं कितने से? यान के भीतरी परिवेश और खिड़कियों के बाहर उस शून्य का विरोधाभास मेरे भीतर एक शीत कुहासा भर रहा था। अनिश्चय धुंधला होता है और कल को तो किसी ने नहीं देखा। मैंने अपने नियमित जीवन में लिखने के अतिरिक्त कभी कोई काम किया नहीं था, इस बार शोभा डॉक्टर के टेलीफोन पर पाये निमंत्रण से उत्साहित होकर इस बंबई जाने वाले यान में बैठ गई थी ... यह मेरी पहली एकाकी यात्रा थी, बंबई जहां मेरा कोई रिश्तेदार नहीं रहता था। हवाई अड्डे की दुकान से उठाया सिडनी शैल्डन का एक उपन्यास मेरे हाथ में था—जो बीच-बीच में मुझे मेरी घबराहट से बचाने में सहायक सिद्ध हो रहा था। बंबई की धरती पर पांव रखते ही एक असुरक्षा का भाव फिर पैरों से लिपटा तो था पर उसे अनदेखा करती मैं कार में बैठ गई, समुद्र तट से गुजरते मुझे ऐसे लगने लगा कि जैसे जीवन-समुद्र में बहते-बहते उस द्वीप तक पहुंच गई हूं जहां

एक व्यवस्थित-सा तट है और जहां अनेक जलपोत लंगर डाले खड़े हैं। परंतु मुझे लगा, पोतों पर सवार होकर वही लोग यात्राएं करते हैं जिन्हें अपने से दूर जाना होता है, एक द्वीप से दूसरे द्वीप तक ... तो क्या मैं दूर जा रही हूं या अपने निकट हो रही हूं, पता नहीं? फिर से पैर कंपकंपाये, न जान, न पहचान, न पत्र-व्यवहार ... दूरभाष के कुछ मद्धम शब्दों का दुर्बल-सा संदेश मुझे इस छोर तक तो ले आया है, अब पता नहीं क्या होगा, मेरा कौन-सा विकल्प? विचारों को तोड़ती गाड़ी सिल्वर बीच बिल्डिंग के सामने आ रुकी थी। तेरहवीं मंजिल के कलात्मक द्वार पर दस्तक देने की आवश्यकता नहीं हुई, वह मेरे लिए खुला था। एक बड़ा-सा गुजराती ढंग का ड्राइंग रूम, जिसके बीचोंबीच घुमावदार सीढ़ियां मुझे अपने घर की याद दिला रही थीं। उन पर से सवार होकर मैं शोभा के कमरे में चली आई। एक बड़े-से दीवान पर शोभा पालती मारे बैठी थी—उसका चेहरा साधारण था ... परंतु भव्य, एक गरिमा की चमक से भरा हुआ। उसके चेहरे की बड़ी-सी लाल बिंदी जैसे उसका अपनापन था ... कत्थई लाल रंग दहकता हुआ। पास की कुर्सी पर बैठी अपनी सेक्रेटरी को वह डिक्टेशन दे रही थी, वातावरण गंभीर तो था, परंतु था तनाव-रहित—मैं चुपचाप एक ओर बैठ गई, एक नौकर आकर कॉफी का प्याला पकड़ा गया, जिसे पीती हुई मैं समुद्र को देखती रही जो उस कमरे को जीवंत लैंडस्केप प्रदान कर रहा था—उसकी उमड़ती लहरें मुझे फिर से याद दिला रही थीं, यही कि मैं कहां से आ गई हूं क्यों? यह महिला कहां ले जायेगी मुझे? ... किस आयाम तक? शोभा का स्वर मेरे आसपास एक तिलस्म बुनता रहा, एक तंतुजाल—मुझे लगा, उसके वार्तालाप में कुछ है, एक करिश्मा, बौद्धिकता, अभिबोध जो मेरे अस्तित्व पर धुंध-सा छाता जा रहा था। जल्दी ही हमारी पहचान आकार लेने लगी। घर से दफ्तर की यात्रा के दौरान औपचारिकता धीरे-धीरे मित्रता में बदलने लगी। संबंध निर्मित करने के भी तो ढंग होते हैं, जैसे कवि का वह—सृजन करता है, कल्पनाओं के चित्र किसी व्यक्ति विशेष के आसपास बुनता है—शून्य से खोज कर शब्द लाता है—या मूर्तिकार जो पत्थरों को तराशकर एक आकृति उकेरता है, जो कुछ नहीं था वह कुछ हो जाता है—आकारान्वित ... मैं भी शोभा को अंश-अंश जोड़ रही थी और शायद वह मुझे।

दफ्तर पहुंचकर उसके स्टाफ ने मुझे ऐसे लिया जैसे किसी प्रोफेशनल को लेते हैं—जो मैं उस दिन तक नहीं थी और न आज तक बन पाई हूं। शोभा के साथ काम करते मुझे लगता उसके पास भी अपने-अपने अनुभव हैं, जीवन के जीवंत सत्य भी, जिन्हें उसने कंधों पर लटका रखा है—वह सुन्दरता-कुरूपता का भेद जानती है—उसका व्यवस्थित व्यवसाय 'एडवरटाईजिंग एजेंसी' और उसी से अनुबद्ध बन रहा भारत का पहला सीरियल 'हम लोग' उसे एक प्रतिष्ठा के फ्रेम में जड़ रहे हैं। मेरा लेखन मेरा चैलेंज बन गया था, मुझे लगता अब तो मात्र 'समय' या वक्त ही है, मेरा समकालीन और कोई नहीं, वही मुझे किसी एक मंजिल की ओर ले जायेगा। शोभा मुझे एक आईना पकड़ा रही थी, जिसमें

प्रतिबिम्बित होते दृश्य, चेहरे, मुझे बम्बई के इस नितान्त नये परिवेश से जोड़ रहे थे—मैं अपने उस कौतूहल-भरे परिवेश में वक्त को मुट्ठियों में दबाए बस चल पड़ी थी ... ये बात अलग है कि मैं रास्ते के बीहड़पन और कठिनाई से अभी तक अनभिज्ञ थी। खैर, अपने स्क्रिप्ट की स्क्रीनिंग हो जाने पर मैं उस पर काम करने लगी, बदलाव और नाटकीयता में जुट गई। समय कम था अतः पूरी-पूरी रात लिखने, काटने, सोचने तथा लिखने में बीत जाती। शोभा के दफ्तर जाने के बाद मैं अपनी कहानियों, संवादों के साथ अकेली रह जाती ... ।"

शोभा के घर में चारों तरफ बड़ी-बड़ी विशालकाय खिड़कियां थीं जिनके कांच को किसी पर्दे से नहीं ढका गया था—हर कमरे से ऐसा लगता था जैसे मैं किसी पानी के जहाज पर सवार हो गई हूं और घर के बाहर का समुद्र अपनी उत्ताल तरंगों से मेरा आह्वान कर रहा है। जब भी लिखते-लिखते थक जाती, खिड़की के उस पार उमड़ते-घुमड़ते जल-प्रपात को देखती, उसकी विकरालता मुझे फैल्सीनेट करती। कभी मेरा मुग्ध मानस उसकी गरिमा से उद्दीप्त हो जाता, लगता कितना असीम है सागर, सीपियों और शंखों के खजाने से सारगर्भित, परिपूर्ण, विकराल, और कभी मैं अपनी ही हहराती इच्छाओं में छटपटाती, उसके वक्ष पर पछाड़ खाने लगती—या कभी मेरे भीतर का हिम गल कर तरल होता बह जाता। खिड़की के बाहर जाकर उस समुद्र को खुली बांहों में लेने का मन होता था, जी चाहता था नंगे पैर रेत पर खड़ी हो जाऊं, उंगलियों से लहरों के मटमैलेपन को खंगाल दूं और खारेपन के खुरदरे अस्तित्व को सहलाकर सहेज लूं, समुद्र तट पर ऐसे जाऊं, चुपचाप, जैसे मेरा कोई अस्तित्व न हो और मेरे न होने में उसका अस्तित्व व्याप जाये। शायद इसलिए भी कि समुद्र के उस मटमैले दर्पण में मैं अपनी एक पहचान बनानी चाहती थी।

शोभा से जब भी कहती, वह मेरे समुद्रतट पर घूमने को मना कर देती, उसका यूं टोकना मुझे अच्छा नहीं लगता था। ऐसे ही एक दिन मुझे लगने लगा कि यदि मैं आज समुद्रतट पर नहीं गई तो मेरे भीतर का ताप तीव्र होकर मुझे ही जला डालेगा। मैं बिना कुछ सोचे जल्दी-जल्दी लिफ्ट से नीचे उतर आई। बिल्डिंग से बिलकुल सटकर बह रहा था वह समुद्र—जो मेरे इतना निकट था, फिर भी कितना दूर था। पास आने पर मेरे अकेलेपन से मुझे बचाने के लिए उसने भी मेरे लिए लहरों की आतुर बांहें फैला ली थीं। रेत पर चप्पल पहनकर चलना कठिन लगने लगा तो चप्पल उतारकर हाथ में पकड़ लीं। अब तक साड़ी का समूचा किनारा गीला होकर कीचड़ होने लगा था, पर मैं सभी कुछ अनदेखा करके मजे से अपने पैरों पर लहरों के थपेड़े झेल रही थी, तलवों के नीचे सरकती बालू कभी गुदगुदाती थी, या कभी गंदगी के किसी कचरे को चुभो जाती थी और तभी वह सरसराता, एहसान तिरोहित हो जाता था। दूर कहीं क्षितिज में सूरज डूब रहा था अपनी लालिमा के दुशाले को लपेटता, उसी की सिलवटों में विश्राम के क्लांत थके चेहरे को छुपा

रहा था, या जलसमाधि ले रहा था—विदा, महानिर्वाण या ... ।

"आप जानती हैं इस बीच का क्या नाम है?"

एक परछाईं मेरे कंधे से टकरा मुझे मुझमें लौटा रही थी। मैंने पलटकर देखा, एक कॉलेजी-सा लड़का अपने भावविहीन चेहरे पर दो चमकीली आंखों से मुझे देख रहा था।

"आपने मुझसे कुछ कहा?" मैं अचकचा गई।

"जी ... आपसे ही कह रहा था, समुद्र के इस तट का नाम बता सकेंगी मुझे?"

"नहीं, मैं तो इसका नाम नहीं जानती। मैं खुद अजनबी हूं और पहली बार ही आई हूं यहां ...।"

"मैं भी नया हूं इस शहर में ..." उसने कहा, "आप बंबई घूमने आई हैं?"

"नहीं, काम करने।"

"क्या काम?" वह मेरे कपड़े, घड़ी, सोने की चूड़ियां सभी कुछ नाप-तोल रहा था। अब तक मैं तट से हट आई थी और रेत के थक्के पर आराम से बैठ गई थी।

"मैं लेखिका हूं—सीरियल की कहानी लिख रही हूं।"

"सच?" उसकी आंखों में कुछ कौंधा, "मैंने तो कभी किसी राइटर को नहीं देखा ... आप जैसे होते हैं राइटर।"

मैं हंस पड़ी थी ... बिना सोचे-विचारे मैंने अपने को उस समुद्रतट की उन्मुक्तता में बह जाने दिया था। वह बता रहा था—अपना नाम, वह कहां काम करता है—उसका यहां कोई नाते-रिश्तेदार भी नहीं है—अकेला, अनाम इसी तट पर रोज आता है, कभी घूमने, कभी समय काटने।

"आपको ज्योतिष पर विश्वास है?"

"नहीं, मैं तो कर्म में विश्वास करती हूं।"

"अजीब हैं आप, मुझे हाथ देखना आता है और आप हाथ पीछे खींच रही हैं ... लाइए।" उसने जिद-सी की।

"अच्छा, चलो बताओ ... मेरी नियति क्या है?" मैंने बेझिझक हाथ फैला दिए।

"मैंने किसी राइटर का हाथ पहले कभी नहीं देखा"—कहते हुए वह मेरी हथेली की लकीरों पर उंगलियां फेरने लगा—"ये तो आपकी लाइफ लाईन है, ये हार्ट की और ये ..." मुझे उसके बचकानेपन पर हंसी आने लगी—मेरा अपना बेटा जल्दी ही इतना बड़ा हो जाएगा। मेरी सोच से अलग, उसका स्पर्श, मुझे लगने लगा कि वह महज मुझे छूने के लिए छू रहा है। मैं उसकी ऊटपटांग भविष्यवाणियों को अनसुना कर रही थी—क्योंकि कभी-कभी मात्र वर्तमान, जो हो रहा है, उसे जीने का भी तो जी चाहता है।

"चलिए, आपको कॉफी पिलाते हैं।" वह उठ खड़ा हुआ ... मैं भी चल पड़ी। कुछ ही कदम पर खोमचे वाले, नारियलपानी वाले दिखाई पड़ रहे थे—परंतु जब हम वहां

पहुंचे तो इमारतों से कतराकर निकलता हुआ एक मोड़ बाजार जैसे एक परिवेश तक पहुंच रहा था—उसी मोड़ पर मुड़ते हुए उसने कहा—"चलिए, अंदर रेस्तरां में बैठते हैं।" मैंने अपने कपड़ों पर दृष्टि डाली—रेत से लदी साड़ी, तेज हवा से उड़-उड़कर गुच्छा हुए बाल—मैले हाथ-पैर। न ही मेरे पास पर्स था ... "छिः, अंदर कहीं बैठने की क्या जरूरत है, यहीं कुछ ले लेते हैं ..."

पर वह नहीं माना और मेरी सभी दलीलें नाकाम करता मुझे एक छोटे-से रेस्तरां तक ले आया। कोई मामूली-सा ईरानी रेस्तरां था, जिसकी दहलीज पर पैर रखते मुझे अजीब लगा था, परंतु मेरे भीतर का राइटर मेरे संकोची स्वभाव को उड़ा ले गया और अपने अजनबीपन के नकाब को मैंने ठीक से चेहरे पर टिका लिया। एक बार फिर मेरे पैर लड़खड़ाए—देखा, वह एक छोटा-मोटा पब है और कुछ लोग बीयर पी रहे थे। मैं लौटने को हुई तो मेरे रास्ते में आड़े होते हुए उसने कहा, "यहां नहीं, अंदर बैठते हैं।" अंदर वाली जगह देखकर मैं और भी चकराई, वह एक बिलकुल छोटा-सा केबिन था जिसकी चौखट पर फैमिली रूम लिखा था। बेवकूफ मैं और उसके सँकरेपन और फैमिली' के विरोधाभास पर हंस कर कह रही थी—अजीब जगह है, ऐसा कुछ तो हमारी दिल्ली में नहीं होता। सुनो, बाहर निकलते हैं। नहीं तो मेरा दम घुट जाएगा।" परंतु तब तक कॉफी के प्याले खड़खड़ाता एक बैरा दरवाजा खोलकर भीतर आ चुका था। "चलिए—कॉफी तो पी लीजिए।" उसने कहा और कुछ ऐसे टेढ़ा होकर बैठा कि मेरे शरीर से वह पूरा का पूरा छू जाए। मेरे हाथ पर हाथ रखकर कहने लगा—"मुझसे दोस्ती करेंगी आप ... मैंने आपको जब देखा, तो अलग लगीं आप, आपका चलने का अंदाज ... मेरा जी चाहा आपको छू कर देखूं ..." उसका अक्खड़पन, स्थिति की वह कुरूपता अब तक मेरी समझ में आने लगी थी—पर मैं हंस रही थी—उम्र में बड़ी थी—उससे कुछ छोटे बेटे की मां थी ... इसी से डर नहीं रही थी ... पर अचानक वह छोकरा उम्र नहीं, शरीर हो रहा था—एक पुरुष का शरीर—कॉलेजी उत्सुकता से भरा शरीर और उसके सामने मैं बस एक स्त्री थी, एक जिस्म पर जिसे वह छूकर महसूस कर सके और जिसे वह इस छोटे-से केबिन की घुटन भरी दीवारों के मध्य एक विजय में बदल सके।

मेरा कौतूहल, अनुभवों के फैलते विचार जम गए। उसका अनावृत होता शरीर एक बीभत्स सच्चाई-सा अकड़ गया।

"तुम यह सब बंद करते हो या नहीं!" मैं चिल्लाई।

"नहीं।" उसके चेहरे पर अब तक एक ढीठ कामुकता फैल गई थी। मैं उठ खड़ी हुई, "रास्ता छोड़ो, मुझे जाना है!" परंतु उस संकरे केबिन से निकलना ही कौन-सा आसान था—"जाएगी कैसे!" उसके स्वर असलियत पर उतर रहे थे, मैंने गुस्से से उसे धक्का दिया और जगह पाते ही भाग खड़ी हुई। बाहर बीयर पीते लोग, पैसे गिनता दुकानदार।

... मुझे लगा, उन सबकी दृष्टि में मैं पता नहीं कैसी हो गई हूं ... रेत के दलदल से अपने को घसीटती जाने कैसे बिल्डिंग तक आई—नहा-धोकर साफ कपड़े पहनकर मैंने समुद्र की ओर से पीठ फेर ली। सोच रही थी, यह मेरा जलपोत पनडुब्बी में कैसे बदल गया, मैं तो सीपियों की चमक बटोरने गई थी ... और हाथ लगा था कुरूप बंबईया कचरा।

शोभा के घर लौटने पर मैंने उसे अपने साथ घटित उस घटना का ब्यौरा दिया, तो उसने कहा—"तभी तो मैंने तुम्हें मना किया था, वहां नहीं जाना ... और फिर गईं भी तो क्या जरूरत थी उससे बात करने की ... ये कॉलेज के विद्यार्थी इतने फ्रस्ट्रेटेड हैं ... एक चीप थ्रिल के लिए कुछ नहीं देखते ... न उम्र, न स्थान ... खैर, चलो आज डिनर पर बाहर चलते हैं ... मेरी मित्र का निमंत्रण है, मैंने उसे तुम्हारे बारे में बता दिया है ... चलो, मनःस्थिति बदलेगी और माहौल भी, दिन-रात कमरे में पड़ी लिखती रहती हो ..."

उसने मुझे जबरदस्ती तैयार करवा लिया, मैं भी छुटकारा चाहती थी। जिस डिनर पर हम पहुंचे, वहां मात्र महिलाएं ही आमंत्रित थीं। हमारी मेजबान थी 'मार्ग' पत्रिका की संपादिका सरयू दोशी। वहां की सभी महिलाएं अपने-अपने क्षेत्र में विशिष्ट ही नहीं, प्रबुद्ध भी थीं। प्रफुल्ला दहानुकर चित्रकार थीं, अमरीकन ऐम्बेसेडर की पत्नी, एक महिला शेअर ब्रोकर और शोभा। अपनी एड एजेंसी की चेअरपर्सन तो थी ही मैं, उसके साथ लेखिका की हैसियत से पहुंच गई थी। सारा माहौल मुझे विषग्रसित अपनेपन से उभार रहा था। औपचारिकता के बाद वार्तालाप शोभा पर आ टिका था—

"तुम्हारे जैसी एड एजेंसियों के कारण दूरदर्शन पर कितना बढ़ गये हैं विज्ञापन ... इतने कि कोई भी नाटक या फिल्म को पूरा नहीं देखा जा सकता—जो हाथ लगता है वह सब कुछ टूटा और खंडित होता है—जोड़ो भी तो अर्थ नहीं निकलता।"

"और ये सब इंसानी मानसिकता पर कितना गहरा असर डाल रहे हैं, एक ऐसा फैंटेसी का संसार निर्मित कर रहे हैं जिसमें हर सपना देखने वाला पुरुष या स्त्री, जाने-अनजाने अपने अवचेतन में एक आकृति गढ़ लेते हैं—एक ब्रांडेड खूबसूरती लक्स जैसी या लिरिल जैसी ... "

शुरू से चलें तो हमारी व्यवस्था ही कितनी लड़खड़ाई हुई है, बच्चों के मन पर पाठ्यपुस्तकें कोई संस्कार नहीं बनातीं, बस इम्तहान पास करवा देती हैं ... इंसान को इंसान नहीं बना पातीं ... तभी तो पुस्तकों से संबंध टूटता जा रहा है, दूरदर्शन से जुड़ता जा रहा है ... इश्तहारों के असर को अपनी मानसिकता पर हावी होने दे रहा है ...

किताबें ... बेचारी किताबें ... बस ड्राइंगरूम में सजी रहकर नुमाईशी हो गई हैं ... बस जीवन और उसकी गंभीरता से उनका संबंध नाम मात्र है ...।

"तुम्हें नहीं लगता, हम सभी ... लाखों करोड़ों, समूचे संसार के लोग, एक सरल तयशुदा रास्ते की तलाश में रहते हैं, अपनी सोच जिसे हम खो चुके हैं ... और प्रश्न करना

तो जैसे भूल ही गए हैं ... सवाल जो व्यवस्था के विरुद्ध उठाए जा सकते हैं।"

"यह तो एक तरह से किसी की मृत्यु जैसी स्थिति है। हां, मृत तो हैं हम, तभी तो संवेदना जैसे इमोशन की जीवन में कोई एहमियत नहीं बची है। बस, खूबसूरत कपड़े पहनो, मेकअप लगाओ, चल पड़ो, फिल्मी गानों-सा कूद-फांद वाला प्रेम करो और हो सके तो जीवन में किसी दूसरी स्त्री, रखैल, कीप जैसा बनकर स्कैंडल खड़ा करो, आज के माहौल में कितना आम हो गया है ये सब ... और ये कुछ सिनेमा की अभिनेत्रियां पता नहीं किस-किस का घर उजाड़ रही हैं ... ।"

इसका सीरियल, कुछ ऐसा है, शोभा ने कहा—"रिश्तों की कुरूपता, स्थितियों की विकृति को परदे पर उतारता हुआ ... हो सकता है उससे कुछ लोग समझ पाएं, टूटे हुए संबंधों का धुआं छंट जाए ... ।"

तभी एक अधेड़ उम्र की महिला, फिल्मी-सी, बहुत-सा मेकअप थोपे हुए, अपने कटे बाल झटकती एक फिल्मी एंट्री-सी सामने आ खड़ी हुई। परिचय दिया गया—

"आई एम महारानी ऑफ मोरवी, माई नेम इज विजय, यू कैन काल मी वी.जे. ..."

वह पेय लेकर बैठ जाती है—मेरा उत्तर अभी हवा में लटका था। "व्यवस्था या व्यवस्था के विपरीत नहीं जाता मेरा सीरियल, मनुष्य की सोच, एक अवेयरनैस को उकसाने का प्रयास भर करता है कि व्यवस्था के विरुद्ध हम सोचने की शुरुआत तो करें ... अपने मस्तिष्क को प्रयोग में तो लाएं ... जोर डालें ... ।"

"और वायलेंस ... ये फिल्मी मार-धाड़ ... उसके लिए क्या करोगी तुम ...?"

"हर वायलेंस का एक कारण होता है ... प्रत्येक हिंसा दमन या निरोधात्मक स्थितियों की प्रतिक्रिया है, और कुछ नहीं।"

"उस फ्रस्ट्रेशन का क्या किया जाये जो समाज में बढ़ रही है उंगली से मंजन करने वाला साधारण आदमी अब बढ़िया टूथपेस्ट, ब्रश की इच्छा करने लगा है ... ।"

"साधारण कमोडिटीज के न मिलने पर बढ़ती ये फ्रस्ट्रेशन, जिसे ये एड एजेंसियां दूरदर्शन पर दिखा-दिखाकर और बढ़ा रही हैं ..."

"मेरी एजेंसी पैसा कमाने के लिए दिखाती है वह सब, मनोरंजन के लिए सीरियल भी तो दिखाती है, दर्द का इलाज भी करती है ..."

महारानी मोरवी, विजय, वी.जे. ने कहा—"क्या होगा एक-आध अच्छे सीरियल से, हम जैसे लोग तो उसे देखते भी नहीं और फिर, ह्वाई शुड यू ... मिसेज अंसल, तुम्हारे जैसे लोगों को क्या जरूरत है ऐसे फटीचर काम की, तुम क्यों हो राइटर—वह भी हिंदी की? आई एम श्योर देअर इज नो मनी, तुम्हारा लिखना विल टेक यू नो व्हेहर ..."

"हां", शोभा ने कहा—"पागल है ये ... समुद्र के किनारे घूमती है ... सेक्स स्टार्व्ड लोगों से एक कॉमन मैन की तरह बातें करती है ..."

"समुद्र के किनारे इसलिए जाती हूं कि वह फैस्सीनेट करता है मुझे ... और कॉमन-मैन से बात करके अनुभव बटोरती हूं ... मुझे लिखने के लिए चाहिए होता है ना ..." मैं अपनी सफाई पेश कर रही थी।

"हां, तुम्हें देखकर मुझे भी ताज्जुब हुआ था ... कैसे लिख लेती हो उपन्यास, इतना सारा, हमारे पास तो एक लैटर लिखने का समय भी नहीं होता ..." प्रफुल्ला की भी ऐसी ही दलील थी।

"आप तो जानती होंगी", मैंने प्रफुल्ला दहानुकर से कहा—"याद होगा आपको, एक बार माइकेल ऐंजिलो से किसी ने यह सवाल पूछा था—"तुम क्यों गढ़ते हो मूर्तियां, भूखे- नंगे रहते हो, कष्ट उठाते हो ... मात्र इन मूर्तियों के लिए?"

उनका उत्तर था—"मैं जब भी पत्थर की दुकान के पास से गुजरता हूं, पत्थर मेरी ओर देखने लगते हैं, मुखर हो जाते हैं, उनके अस्तित्व में समाया हुआ मसीहा मुझसे कहने लगता है—मैं इसमें कैद हूं, मुझे छुड़ाओ, और बस, मैं पत्थर के परिवेश में अपने मसीहा को खोजता हुआ उसे तराशने लगता हूं, इस प्रक्रिया में अनगढ़ गढ़ा जाता है, पत्थर आकार हो जाता है ... मास्टरपीस हो जाता है ..."

पता नहीं मैं किसी भी लेखक या कलाकार की मनःस्थिति को कितना समझ पाई—पता नहीं मेरी बुद्धिजीविता थी या मेरी विक्षिप्तता, कौन किसका कारण थी? कैसे कहा जाए? अत्यंत आदिम, अत्यंत विकसित समाज में ऐसा भौतिक नकार अवश्य ही मेरे चेहरे पर सवालिया निशान लगा जाता होगा, तभी तो ये वी.जे. मेरे खामोश व्यक्तित्व पर जी खोलकर हंस रही थी। मुझे बुरा नहीं लगा था क्योंकि वह शाम मेरे लिए जिज्ञासा का एक द्वार खोल रही थी—कुछ चरित्रों को जानने की जिज्ञासा ... 'जानना', जो मेरी धमनियों में बैचेन-सा बह रहा है। □

पानी से भरे बादल और सुलगते पाईन

नासिरा शर्मा

सुनकर विश्वास नहीं होता कि अपने देश का एक हिस्सा भी है जहां के निवासी अपने ही देशवासियों के साथ विदेशियों जैसा व्यवहार करते हैं। अपनों के बीच परायेपन का एहसास एक तकलीफदेह स्थिति है। नासिरा शर्मा दो महीने शिलांग में रहीं। एक रचनाकार के नजरिये से उन्होंने वहां जो कुछ देखा, सुना और महसूस किया, उसे अपनी चिरपरिचित शैली में उन्होंने प्रस्तुत किया है।

खासी पहाड़ियां एकाएक धुनकी रुई के समान सफेद बादलों से ढंक गयीं। मोतीनगर मोहल्ले की ऊंचाई से उतरती हुई ललनाओं ने हाथ में पकड़ी छतरियां खोल लीं जैसे उन्हें वर्षा के आने का संकेत मिल गया हो। नीचे सीढ़ियां उतरती खुली रंग-बिरंगी छतरियों की पतली पंक्तियों ने घुमावदार सड़क पर इंद्रधनुषीय छटा बिखेर दी है। दरख्तों के बीच फंसे बादल बारिश की झड़ी में परिवर्तित होकर फूल-पत्तियों पर खुलकर बरस गए हैं।

दिन में कई बार होने वाली इस दो-तीन सैकेंड की बारिश से जन-जीवन रुकता-थमता नहीं है, पूर्ववत्-सा चलता रहता है। यह सच भी है, क्योंकि सामने पार्क में खेलते लड़के दुगुने वेग से फुटबाल पर किक मार रहे हैं। लाउडस्पीकर पर बजने वाली अंग्रेजी धुन उनके खून में दुगुना उबाल पैदा कर रही है। खिड़की के जंगले से सब कुछ देख रही हूं, तभी नीचे से दोनों बच्चे आते दिखे।

ऊपर पहुंचकर दोनों धम्म से कुर्सी पर बैठ गए। चेहरे तमतमाए हुए हैं, गुस्से में सांस तेजी से सीने को ऊपर-नीचे कर रही है। परेशानी से पूछती हूं, "आखिर हुआ क्या है, बोलो तो? कुछ तो बोलो?" पर दोनों केवल मुझे घूर रहे हैं। मेरे इसरार पर दोनों एक-

दूसरे को कोहनी मारते हुए कहते हैं, "पहले तुम बताओ न!"

बहुत पूछने पर पता चला कि पार्क में साथ खेलते बच्चों से तकरार हो गयी। झगड़े की शुरुआत थी, "फोरनर्स गो बैक। दिसिज अवर लैंड, यू नो।"

कई बार का सुना, घिसा-पिटा वाक्य कहकर मैंने टालना चाहा, "वे बच्चे स्कूल नहीं जाते हैं। इस कारण ऐसी बातें करते हैं। उनके विचार संकीर्ण हैं। तुम लोग तो समझदार बच्चे हो। यह सब अपने लोग हैं, फिर यह भी तो भारतवर्ष का ही भाग है न!"

"पता है, तब ही उनके पापा फरमा रहे थे कि अब आए दोबारा झूला झूलने तो कुत्ते की तरह काटकर रख दूंगा।" खून में बरसों पहले सोई दहशत दौड़ने लगी। बहुत चाहा जहर पी जाऊं पर ... पर लगा—नहीं, यह शराफत नहीं है। बल्कि भीरुपन की ओर बढ़ता अपना व्यवहार ... अब बर्दाश्त से बाहर हो रहा है ... पर करूंगी भी क्या? बहुत हुआ तो उस मैकेनिकनुमा मजदूर को डांटूंगी। वह सिर झुकाकर सुन लेगा। क्योंकि शिलांग में औरत से डांट खाना डूब मरने के बराबर है। पर उस सबसे लाभ क्या होगा? पर कई बार घर के चक्कर लगाकर अपने को संयत कर लिया। अपने को संभालकर पहले बच्चों के, फिर अपने नाखून काटे।

बिशप फॉल किसी भी प्रकार से ऐलीफेंटा फॉल से सुंदर नहीं है। कहने को दोनों ही नाले हैं। ऐलीफेंटा फॉल तो पतला-सा नाला है। पर एकाएक सीढ़ीनुमा ऊंची-नीची चट्टानों पर गिरकर फूलझड़ी की तरह चटखता है। आसपास खड़ी सड़ी लकड़ी के समान की बड़ी-बड़ी चट्टानों से घिरा है, लगता है कभी भी यह शिलाएं भूसे की तरह ढह जाएंगी। पुल और टेढ़ी-मेढ़ी पत्थर की सीढ़ियों से उतरकर उजले पानी में नहाना बच्चों को भला लगता है। लंबे-चौड़े तालाब से पानी गुजरकर अंदर गार्ज में जाकर गुम हो जाता है, पर बिशप फॉल इसके विपरीत शहर के सारे गंदे पानी को लेकर थियेटर वैली में गिरता है। ऊंचाई और पानी की अधिकता के कारण पानी का मटमैला रंग झाग उगलते सफेद पानी में बदल जाता है और पानी के इस तीव्र वेग के कारण यहां पर छोटा-सा पॉवर हाउस है जिसमें इस नेपाली लड़की का पति काम करता है। मैं अपनी जिज्ञासा को दबा न पायी। बात करने के बहाने उसके घर में जाकर बेंच पर बैठ गयी। कुछ समझ में न आया कि गृहस्थी है कहां? लगा, धोबी की दुकान में आ गयी हूं। ऊंची-सी मेज, जिस पर कपड़ों का ढेर। न पलंग, न बर्तन-चूल्हा, बस यह बेंच है। पर सोती कहां है यह? ढाल पर झोंपड़ी है। पानी और सिर्फ पानी रहता होगा धरती पर ... जब आंखें अंधेरे की अभ्यस्त हो गईं तो पता चला कि जिसे मैं कपड़ों का ढेर समझ रही थी, वह उसका पति था जो रात की ड्यूटी कर अब दिन में बेखबर सो रहा था। ओह! तो यह है चारपाई इनकी। दीवार पर दो-तीन भिगौने टंगे थे।

बाहर निकलकर मैं वहीं वैली के कगार पर बैठ गयी। "यहां लोग मरने बहुत आता

है।" वह उन्मुक्त हंसी हंसी, "कल वहां से एक लड़का कूद गया नीचे।" उसने ऊपर इशारा किया।

"आखिर क्यों?" आंखों ने ऊंचाई नापी। थोड़ी देर के लिए नीचे सफेद फेन लाल हो गया होगा।

"पता नहीं। दस दिन पहले एक लड़का घर से भागकर तीन दिन तक यहां छिपा रहा। मां-बाप दिवाना माफिक ढूंढता ही रहा।"

मैंने दूर तक देखा। कितनी बड़ी है यह घाटी। कितनी बड़ी-बड़ी शिलाएं, नाना प्रकार की वनस्पति। मन खिन्न हो उठा। विदा लेकर खामोशी से नीचे ढाल की ओर बढ़ती हूं। कहीं स्वतंत्रता बोझ बन जाती है तो कहीं घुटन कुंठाओं को जन्म देती है।

बरसाती नाला कल-कल करता चूने की चट्टानों से बह रहा है। किनारों पर चिकने बड़े पत्थरों पर खासी औरतें बैठी हैं। धुलाई के साथ दर्दे दिल भी कह रही हैं। यह मेहरी है जो घर-घर जाकर झाड़ू-बर्तन करती है। घरों में नल नहीं हैं। इस कारण ये मेहरियां जो कांग अर्थात् बड़ी बहन (खासी भाषा में) कहलाती हैं, नाले के पानी में कपड़ों के गट्ठर धोकर निचुड़े कपड़े घर-घर वापस कर आती हैं।

"इस वर्ष यदि शिलांग में वर्षा न होती तो शायद पानी का कहर पड़ जाता।" सुनकर लगता है कहकहे लगाऊं। इस झरनों के प्रदेश और रिसते आसमान की धरती पर पानी की कमी? घरों में बारिश के पानी को जमा करने के लिए बड़े-बड़े ड्रम रखे हैं।

सामने चट्टान उड़ाने के लिए बारूद लगाया जा रहा है और दग की आवाज के साथ हरी घास से ढकी पहाड़ी के बीच से लाल सुर्ख चट्टान निकल आती है और इस नये घाव पर कल तक दो खंभे—सीमेंट व लोहे की छड़ के साथ चुन दिये जायेंगे और फिर हफ्ते भर के अंदर इन दो खंभों और निकली पथरीली धरती पर मकान की जमीन डाल दी जाएगी। लकड़ी के तख्ते, बांस, मिट्टी, टीन, चूना, कोलतार से मिलकर पहाड़ी की चोटी पर एक घरौंदा बन जाएगा। घर की ओर मुड़ने से पहले पान की दुकान के पास पहुंच गयी।

"कोबलाई मां।" उस गदराये चौड़े मुंह की खासी लड़की ने कहा।

"कोबलाई मां।" मैंने उत्तर में कहा—फिर हिंदी में दोहराया, "कैसा है?"

"ठीक है, मेमशाब। कोआये चाहिए?"

"हां, पांच बांध दो और एक मैं खाऊंगी," कहकर मैंने आधे पान की तह खोली। चूना कम किया, फिर कच्ची भीगी छालिया के चौथाई हिस्से को पान में लपेटकर मुंह में रख लिया।

"कब वापश जाता देश?"

"एक मंथ बाद।" मैंने अंग्रेजी मिश्रित हिंदी में उसे समझाया। वह हंसी। "देरी है।" तभी उसे किसी ने पुकारा। उस छोटी-सी दुकान में पीठ के पीछे खिड़की थी जिसके

उस पार कोई लेटा था। फिल्मी सितारों के बीच से झांकता उसका चेहरा अजीब-सा लग रहा था। उसने कुछ कहा। मैं हैरत से धर्मेंद्र, संजीव, राजेश के लगे विभिन्न चित्रों को देखती रह गयी जिनके बीच उसी आदमी की तस्वीर लटक रही थी।

"शाब नहीं आया शात?" उसने खिड़की बंद करते हुए पूछा।

"वह तो आफिस में हैं।"

वह फिर खिलखिला उठी। "हमारा शाब अंदर शोता है। एक मंथ का बेबी है, उसे देखता है। जब हम दूकान बंद करके घर जाता, तब वह शाम को घूमने जाता। लिम्का पियेगा?"

"नहीं, शाम को आकर पियेंगे।" कहकर मैं उड़ी-उड़ी-सी घर की ओर मुड़ने लगती हूं। हम अपने हक, अपनी आजादी की मांग करते-करते मरे जा रहे हैं और यहां लगा सारी बगावत, सारा जोश बुलबुले की तरह बैठ गया।

सामने सब्जीवालियों के नीली चेक के कपड़ों से झांकते चेहरे, उनका सलीका, पहनावा सब प्रश्नचिह्न बन गए। स्वतंत्रता क्या है। समानता क्या है? और सच क्या है? वह सब्जीवाली जो मैदानी प्रदेश में ढेरों बच्चों के साथ रोटी के लिए पति का मुख देखती है या फिर बालों के झुथड़े नोच-नोच कर गाली-गलौज करती है।

"क्या चाहिए, मेमशाब?" पास से गुजरते हुए टोकी जाती हूं।

"कुछ नहीं।"

"मेमशाब शाब के पूछे बिना कुछ नहीं खरीदेगा," कहकर सब्जीवाली ने हाथ में पकड़ा अंडा छीलना शुरू कर दिया। यह चाय का समय है। सब दुकानवालियां अंडा-दूध, अंडा-चाय पी रही हैं। सूअर के गोश्त के दुकान पर सिर को लेकर मोल भाव हो रहा है। दूकान के नीचे सूअर की हड्डियों को चूस कर कई कुत्ते बेसुध-से सो रहे हैं।

शॉर्टकट पर हो लेती हूं। घरों के आंगन फूल से उबल रहे हैं। टमाटर के बड़े-बड़े पेड़ों में लाल-पीले टमाटर मुगलकाल की कंदीलों की तरह लग रहे हैं। शायद ही संसार में कहीं हरे रंग के इतने शेड देखने को मिलें जितने शिलांग में हैं। उस पर से हर रंग के पुष्प।

बिना टोंटी के पब्लिक नल की भीड़ छंट रही है। नल बेतहाशा पानी उगल रहा है। बेकार पानी सड़क को गीला कर रहा है। रास्ते में मीजो दोस्त मिल गयीं। मिसेज हाकिंस के घर से सलामी खरीद कर निकल रही थीं। इधर-उधर की बातों के बाद बोलीं, "आजकल बच्चों को अकेला बाहर मत निकलने दिया करो। खासियों की पूजा का समय है और खून के लिए यह दूसरों को छोड़ स्वयं खासियों को नहीं छोड़ते हैं। नाक में पतले बांस की नलकी डालकर खून चूस लेते हैं।" सिहर उठती हूं। स्वयं से पूछती हूं, यहां पर रहने के लिए कितने प्रकार के मूल्य चुकाने होंगे?

शिलांग ईस्ट का स्काटलैंड कहलाता है—वही सौंदर्य, वही पहाड़ी के बीच बसा छोटा-सा शहर। शिलांग पीक, जो शिलांग की सबसे ऊंची चोटी कहलाती है, वहां से खड़े

होकर शिलांग के शहर की प्लैनिंग बड़ी रोचक लगती है। उतनी ही सुंदर फौजी बस्ती भी लगती है जो 'हैपी-वैली' के नाम से प्रसिद्ध है। वार्डलेक भी एक दर्शनीय जगह है। शिलांग क्लब में ठहरने का उचित प्रबंध है और नीचे लेक पर बोटिंग का। लेक के दोनों तरफ हरे पत्तों के बीच लाल कमल खिले हैं। बीच में बने पुल के नीचे बड़ी-बड़ी नारंगी मछलियां तड़प रही हैं। चूना खिलाने वाले आनंद ले रहे हैं। यूकिलिप्टिस के बड़े दरख्त के नीचे कॉफी पीने बैठ गये।

आज सुबह ही इस लेक से दो स्त्रियों की लाश निकाली गई है। आत्महत्या का क्या कारण होगा? बेजोड़ विवाह? सास-ननद के दुख? प्रेम का चक्कर? दहेज की कमी के ताने? इन बातों का तो यहां प्रश्न ही नहीं उठता। जहां अपना राज हो, वहां क्या डर! तो क्या स्वराज में भी ऐसा होता है? वे औरतें वार्डलेक के किनारे खड़े-खड़े एकदम से कूद गईं। वार्डलेक भी तो अजीब है। जिंदगी पर लगे जख्मों की तरह से कहीं बहुत गहरी, तो कहीं से बहुत उथली। लाश रात को ढूंढी गयी पर जाने कहां पहुंच गयी और जब सबने हिम्मत छोड़ दी तो स्वयं तैरकर पानी के सीने पर आ गयी।

इस छोटे-से शहर में इतने तरह के अपराध घर कर गए हैं जो किसी भी बड़े शहर के मुकाबले में अधिक हैं। कल वह लड़का स्मगलिंग के सामान सहित पकड़ा गया जिसकी दोनों बहनें कलकत्ता की तंग गलियों के बाजारों में रोटी के लिए लक्ष्मण रेखा तोड़ रही हैं। फूलों से भरे रास्ते के ऊपर घास पर तीन लड़कियां सिर पर आंचल डाले खड़ी हैं। गहरा मेकअप देखकर आंखें मूंद लेती हूं। ज्ञात है, कबीले की जो लड़कियां यूं साड़ी पहनती हैं, उनका रंग साफ होता है।

घर के सामने फायरब्रिगेड है, आग कहीं लगी नहीं है तो भी सुबह-सुबह सारी गाड़ियों के इंजिनों को गर्म करने के लिए एक गोल गली का चक्कर लगवाया जाता है। पाईप का पानी बदला जाता है। आज जुम्मा है, बारिश की तेजी के बाद भी नमाज अता करने वाले पैदल, कार व स्कूटर से आ रहे हैं।

सामने फायरब्रिगेड की गाड़ियां पानी में भीग रही हैं। उनके चारों तरफ बना कुछ बांसों का ढांचा अजीब-सा लगता है। इससे फायदा क्या है। फिर भी सुना है यह हाते खींचने में 3,000 रुपये का खर्च बैठा है। अच्छा हुआ छत व दीवार न बनी वरना ....।

नमाज समाप्त हो गयी। सब निकल रहे हैं। दरवाजे से निकल कर भीड़ गिरोहों में बंट जाती है। बंगाली, असमी, उड़िया, साऊथ, यू.पी. वाले जो एक ही पंक्ति में नमाज अता कर रहे थे, कैसे बिखर गए। क्या प्रदेशों की रेखाएं बहुत गहरी हैं? पत्थर पर खींची लकीर की तरह?

शाम को बर्तन धोती कांग से उसके पति के बारे में पूछती हूं। वह चुप हो जाती है। फिर दुख से कहती है, "शादी के पहले हम को जोजफ होने वाला हो गया था। हम

क्रिश्चन लोग हैं। शादी नहीं बना पाया। हमने तो अपने को पहले खर्च कर डाला। क्या करता? वह साथ रहने लगा। फिर कुछ साल बाद एक लड़की से मेलजोल बढ़ा वापस चला गया। अब जोजफ पांच साल का हुआ तो एक दिन आया। बोलता रहा। हम क्या बोलता? फिर छोटा बच्चा होने को था।"

"पर तुम कांग। ऐसे चुप क्यों बैठा?"

"क्या करने को मेमसाहब, हम जानता। उसके साथ खुश नहीं रहेगा। हम नफरत करता उस शे। उसने क्या रहने दिया हमारे पास। अब हम कमाता है, जोजफ को हॉस्टल भेजेगा। छोटे का खर्च भी।"

पड़ोस से आने वाला शोरगुल बढ़ जाता है। कांग बताती है, "इस घर की छोटी लड़की जात के बाहर शादी बनाना मांगता, मां को अच्छा नहीं लगता, सब रुपया-पैसा, जमीन खासी कानून के हिसाब से छोटी बेटी को मिलता है।"

"तो क्या हुआ? तुम्हारे यहां तो स्वतंत्रता है।"

"नहीं, मेमशाब। बहुत बुरा होता ऐसा शादी बनाना। सब जायदाद बाहर चला जायेगा, मां कैसे मान जायेगा?"

मिशनरी ने खासियों को बहुत कुछ दिया है। धर्म, अंग्रेजी भाषा, रहन-सहन, खानपान। पर इसके बावजूद खासियों ने अपना कुछ रहने दिया है। इन सबसे परे एक तीसरी बात है कि औरत की शत्रु औरत ही होती है।

आज रविवार है। सुबह गिरजा घंटों की मधुर लहरी से शुरू होती है। सड़क पर सुंदर कपड़ों में सजी औरतें, मर्द-बच्चे आ-जा रहे हैं। शिलांग में पांच कबीले ऐसे हैं जो उंगली पर गिने जा सकते हैं—गारो, खासी, जयंतिया, मीजो, नागा। इनके अतिरिक्त कई छोटे-छोटे कबीले हैं। इसके अलावा बंगाली, बिहारी, असमी, पंजाबी, मद्रासी, यू.पी. वाले नजर आते हैं। कितनी बोलियां बिखर गयी हैं, इसके बाद भी एक-दूसरे से डरे-सहमे चोर नजरों से दूसरों की गतिविधियों का निरीक्षण करते हैं।

शाम को खाने पर जाना था। रास्ते में पड़ने वाला कब्रिस्तान फूलों से लदा हुआ था। कुछ फूल मुरझा गए थे। तो भी पथरीली ऊंची-नीची पहाड़ी पर विभिन्न आकार-प्रकार की कब्रें फैली हुई थीं।

"सुना?"

"क्या?"

"कल नागतमाई में खासियों ने मीटिंग बुलायी थी, विदेशियों के खिलाफ।"

"विदेशी।" कटु हंसी हलक में घुट गयी।

"मैं सोचती हूं लौट जाऊं।'

"पर ... पर क्यों? यह हमारा देश है। इसकी विशेषता यही है, भांत-भांत के लोग,

विभिन्न जुबानें, तरह-तरह के रस्मों-रिवाज। उन्हें बकने दो।"

"पर इससे लाभ?"

"फायदा यही है कि हम इन्हें कुछ दे रहे हैं। इनसे कुछ ले रहे हैं। इन पिछड़े इलाकों को आखिर कौन संभालेगा। हम और आप ही तो न?"

"भावुक मत बनिये। यथार्थ तो यह है, यह सोचते हैं, हम इनका हक मार रहे हैं, इन्हें चूस रहे हैं और बड़ी-बड़ी सारी पोस्ट्स पर विराजमान हैं। पर कौन बताये कि राह दूर है। उलटे डर कर सुबह, डर कर शाम होती है।"

"सब ठीक हो जाएगा। उन्हें एहसास हो जायेगा। हम उनके लिए कर रहे हैं। दिल साफ होने में कितनी देर लगती है?"

"तब तक हम भी साफ हो जाएंगे उनकी आपसी लड़ाई में। वैसे वाशिद भाई, एक हकीकत कहना चाहती हूं, तल्ख है, पर कटुबाण नहीं। मैं अपनी धरती पर विदेशी बनकर नहीं जी सकती।"

"हमें तो आदत-सी हो गयी है। बचपन से सुनते आए हैं तो हालात से समझौता करना आ गया। हमारे लिए सब जगह एक-सी हैं। हम तो भटकती हुई वे उदास नस्लें हैं जो यहां की धरती से सींची गयी हैं। उनसे जुड़ी हैं। पर हर समय फावड़े के वार से जड़ ही नहीं, दिल भी जख्मी होता है। मैं तो बस जानता हूं।

"हिंदी हैं हम वतन है हिंदोस्तां हमारा।"

कोने में अनन्नास खाते-खाते रुक जाती हूं। लगता है हलक में कुछ अटक गया है। अपने को एक मास से इस कोने से जोड़ने की कोशिश निराधार लगने लगती है। आखिर यह सारा संघर्ष किसलिए? केवल अपना अस्तित्व नकरवाने के लिए?

पति की बात, लगता है, सही है कि मैदान का फूल पहाड़ पर नहीं खिल सकता। इसलिए हमें कर्तव्य समाप्त करके वापस जाना है। लगता है हार गयी। हर चीज़ अच्छी है, सुखमय है, पर गर्म हवा झेलना ...?

अनन्नास का खट्टा-मीठा टुकड़ा क्रीम के साथ मुंह में रखकर किसी तरह निगल जाती हूं।

शिलांग में शामें कई तरह से गुजरती हैं। शराब पीकर, घूमकर। इसके अलावा सिनेमा, मिष्ठान्न भंडार या फिर मैगजीन की दुकानें, जहां पर शाम को मेला लगा होता है। दो दिन देर में पहुंचा पेपर भी लोग चाव से पढ़ते हैं। बासी खबरें उनके लिए ताजा हैं।

सामने की दुकान में बेंत के फल बिक रहे हैं। इतने सुंदर फल खाए जाते हैं। देखने में प्लास्टिक के लगते हैं। उसी के पास बड़ा-सा कूड़ाखाना है जिसकी दीवार पर 'डॉग होटल' लिखा है और कुत्ते पकवान उड़ा भी रहे हैं। डॉग होटल के सामने बैठी अंधी नेपाली बालिका भजन गा रही है।

उसके हलक में रागिनी का वास तो नहीं, पर फटे बांस की कर्कशता भी नहीं है, सो अच्छा लगता है कि हाथ फैले नहीं हैं बल्कि ढपली बजाने में लगे हैं। सड़क के किनारे शहद बेचने वालों की लाईन है। बाल्टी में शहद के साथ छत्ता भी डाल लाए हैं, ताकि उसके खालिस होने का यकीन हो जाए।

बड़े बाजार पहुंचकर हमेशा मछली बाजार में ठगी-सी रह जाती हूं। मरी मछलियों के उस पार, लिपस्टिक में रंगे होंठों वाली, ऊंची ऐड़ी की सेंडिलों में झांकती उनकी नाजुक पिंडलियां, नजाकत से मछली तोलते हाथ, फिर तार की तरह नाजुक बेंत की मछली की नाक में नत्थी का पर्स बनाकर ग्राहक को थमा देना, सब कुछ अजीब लगता है। पान गिनती, छालियां छीलती औरतें, मसाला तोलती, दर्जी का काम करती औरतें मुझे आश्चर्य में डाल देती हैं। बीच बाजार में एक बूढ़ा गाना गा रहा है।

"आई एम नो बडी चाइल्ड ..."

कोई हाथ नहीं फैलाता। अच्छा तो है, जिस हाथ पर स्वयं का लेखा-जोखा अंकित है उसे क्यों किसी को दिखाएं। बेंत से बनी चीज़ों की दुकानों के बीच खड़ी हो जाती हूं। एक टोकरी पसंद आती है। तभी एक सुंदर छोटा-सा पिंजरा नजर आ जाता है।

"कितने का है?" उत्सुकतावश पूछती हूं।

"बेचने का नई।" वह सूत गिनती उत्तर देती है।

"फिर?"

"हम चिड़िया पालेगा, फ्रेंड लाता।"

"काहे का जोड़ा?"

"जोड़ा-वोड़ा नहीं मांगता। नर पालेगा। बच्चा अंडा। हमको बहुत काम है।"

चौंककर उसका मुख देखती हूं। लौटते में मिसेज शुक्ला मिल जाती हैं। वही मकान का रोना। रोज नये खुलते आफिसों की वजह से मकान आफिस बन रहे हैं और रहने को झोंपड़ियां भी नहीं मिल रही हैं।

शाम को कांग नीचे बाग से फूल तोड़कर सजाते हुए बोली, "मेम शाब, छुट्टी मांगता। देस जायेगा। पुराने खेत को तीन साल हो गया। जमीन बंजर हो गया। नया खेत को बनाना मांगता। दूसरा तरफ जंगल जलाकर खाद बनायेगा, धान बोयेगा। मां अकेला है, भूखा मरेगा। हम जल्दी लौटेगा, भाई को देखने जायेगा।"

बचपन में किसी पेड़ को काटते हुए कांग का बाप ऊपर से नीचे घाटी में गिर गया था। उसकी लाश के टुकड़ों को देखकर दस वर्ष का, कांग का भाई पागल हो गया। अब इतने साल बाद कांग कमाने लगी तो उसे अस्पताल में भर्ती कराया है।

कांग चली गयी। एक दिन किचन की खिड़की से देखा माई, जो उसकी मौसी है,

घुटने के बल बैठी नाली से मुटठी भर-भर कर धोबन निकालकर मुर्गियों के आगे डाल रही है।

छी! कितनी लालची बुढ़िया है। अकेली जान के लिए मरती है। सुबह बच्चों के स्कूल के सामने-उल्टी सीधी चीज़ों की दुकान लगाती है जिससे दो-तीन रुपए मिल जाते हैं। घर लौटकर बोयी खेती देखेगी, फलियां तोड़ेगी, गिरे आलूबुखारे उठाएगी। इधर-उधर जादूगरनी की तरह नाक फैलाए घूमेगी। किचन के नीचे ही सर्वेंट क्वार्टर है, सो पूरा समय उसकी दिनचर्या देखती रहती हूं।

कांग के साथ एक दिन ऊपर जंगल जाने का प्रोग्राम बनाया। मोतीनगर मोहल्ले के ऊपर जाकर फिर से दूसरी तरफ उतरकर टैक्सी से घर लौटना था। चाय, खाने का सामान आदि बास्केट में रखकर हम चल पड़े। कांग पच्चीस वर्ष की है, सुबह पांच बजे से काम करती रहती है। कभी-कभी पूछती हूं, "कांग, थक गयी क्या?"

"नहीं, हम थकता नहीं है।" उसके उत्तर से सोचती हूं, क्या इसकी सारी भावनाएं मर चुकी हैं?' मन करता है पूछूं। पता है सवाल अटपटा है, फिर भी—

"कांग, दूसरी शादी कर लो।"

"नहीं, मेमशाब। एक काफी है। फिर हम तो किसी के साथ भी सो सकता है पर हमको अच्छा नहीं लगता। आपके मुलुक में होता ऐसा?"

'क्यों नहीं, सब जगह सब तरह का लोग है। पर इतने स्वतंत्र तो नहीं हैं हम लोग, जितने तुम लोग।"

"यह कुछ भी नहीं है, मेमशाब। बस, ईशूमशीह की सलीब है, हम सब चढ़े हैं।"

मैं चौंक पड़ती हूं। इतनी मस्ती, आजाद में पली इस औरत के सोच का दायरा ...?

सामने पाईन के दरख्तों में कुप्पियां लगी हैं। कुछ तने जले हुए हैं। पूछती हूं, "यह क्या है? जादू-टोना?"

"नहीं, मेमशाब। लोबान जमा होता है।"

"लोबान?" आगे बढ़कर नाखून से गोंद जैसा चिपचिपा पदार्थ उखाड़कर सूंघती हूं। सच, लोबान है।

रास्ता पहाड़ी काटकर बनाया गया है जिसके एक तरफ पहाड़ी, दूसरी तरफ पाईन के दरख्त के जंगल। वहीं ढाल पर लड़के लोकगीत गाते हुए मशरूम चुनते हैं। लाल, काले, सफेद मशरूम (कुकुरमुत्ता) बिखरे पड़े हैं। मशरूम यहां बड़े स्वाद के साथ खाया जाता है।

बारिश शुरू हो गयी। फिसलन भी गजब की हो गयी। किसी तरह एक मील चलकर हम लोग खसिया पाईन (विशेष किस्म) के पेड़ों के नीचे बैठ गये। भीगने से सर्दी लग रही थी। इधर बारिश नहीं हुई थी, सो बैठते ही कांग ने गिरे पेड़ों की शाखाओं को जमा

करके आग जला ली। चाय उड़ेलते हुए मैंने पूछा, "कांग, माई ने शादी क्यों नहीं बनाया?"

"बनाया था, बच्चा नहीं हुआ। मर्द ने दूसरा शादी बना लिया ... माई तब से अकेला रहता है। कमाता है। मरने के लिए जोड़ता भी है ... यहां सब अपने लिए जीता-मरता है ... कौन किश को खिलायेगा ... शब परेशान हैं।"

सोचती हूं, निम्नवर्ग हर जगह पिसता है वरना यहां पैसों की रेलपेल भी है ...

"मेमशाब, आपके मैदान में मर्द लोग ऐसा नहीं करता होगा न?" उसने बड़ी आशा से पूछा।

"वहां भी करते हैं। करने को हजार बहाने हैं। पर हम तुम्हारी तरह स्वावलंबी व बहादुर नहीं हैं। मर्दों का राज है, फिर भी मर्द दुखी होते हैं। जैसे तुम यहां ... दुख-सुख से सबका बराबर का हक होता है।"

वह अफसोस से देखती है जैसे उसका विश्वास कहीं से दरक गया हो।

"ठीक कहती हूं कांग, अपने-अपने हिस्से का सब कुछ झेलना पड़ता है। बस, रंग-रूप अलग होता है।" मैं मुक्त-सी हंसी हंसती हूं।

"हम तो समझता है औरत का जिंदगी पाईन माफिक होता है। जब उगता तो सबको भला लगता। जब बड़ा होता तो उससे लोबान चाहिए। जब लोबान खत्म तो खोखला पेड़ जलाने के काम आता है। फिर सब राख-कोयला-मिट्टी बन जाता।" कांग भावुक हो उठी। उसके झाईं पड़े सफेद चेहरे का पीला रंग बढ़ गया। जलती लकड़ियों पर एक और पाईन की शाख डालते हुए सोचती हूं, 'मुक्ति बेड़ियों के बिना भी भयंकर हो सकती है? पर कौन-सी मुक्ति? कौन-सी स्वतंत्रता? क्षितिज पर आसमान व जमीन के मिल जाने के भ्रम जैसी?' □

आधा घंटा

सत्येंद्र श्रीवास्तव

कैंब्रिज विश्वविद्यालय के हिंदी प्राध्यापक सत्येंद्र श्रीवास्तव का यह लघुनाटक 'न कुछ में बहुत कुछ कह जाने' का अनूठा उदाहरण है। आधा घंटे के अंतराल में निठल्लों का इतिहास-अवलोकन अपनी-अपनी नजर से।

मंच : [एक रेलवे स्टेशन का मालगोदाम। दरवाजा बंद। बाहर अनाज की कुछ भरी बोरियां रखी हुई हैं। चार पुरुष, चार अलग-अलग बोरियों पर, अलग-अलग दिशाओं में देखते हुए बैठे हैं। उम्र तीस-चालीस के बीच। सबके चेहरों पर 'रिज़िग्नेशन' का भाव स्पष्ट है। न तो कहीं खुशी, न कोई गुस्सा-शिकायत। फिर भी लगता है कि कह रहे हों कि इनके साथ किसी बिंदु पर इन्साफ नहीं हुआ है। जब वे बोलते हैं तो उनका रुक रुककर बोलना बातचीत नहीं लगता—स्टेटमेंट या घोषणा लगता है।
माहौल : जैसे किसी घोषणा-पत्र पर विचार-विनिमय किया जा रहा है—या किया जाने वाला है। मंच पर कुछ देर खामोशी। फिर एक तेज गाड़ी के, सीटी बजाते हुए तेजी से गुजरने की आवाज। गाड़ी की तेजी से प्लेटफार्म कुछ हिल जाता है। इन चारों को भी झटका-सा लगता है।]

पहला व्यक्ति : मैं तो कहता हूं इस दुनिया से रेलों का खात्मा हो जाना चाहिए। पूरी समाप्ति। उनकी तेज गति हमें डांटती है जैसे।

दूसरा व्यक्ति : लेकिन तब घड़ियां डांटेंगी। वक्त स्कलेटर हो जाएगा। हमें एक स्थान पर खड़े होने के लिए भी चलना पड़ेगा।

तीसरा व्यक्ति : वक्त किसी का नहीं होता।

चौथा व्यक्ति : औरत किसी की नहीं होती। नेता किसी के नहीं होते।

पहला : अंग्रेज किसी के नहीं होते।

दूसरा : लेकिन स्टेशन की घड़ी उन्होंने लगवाई थी।

तीसरा : अब वह बंद है।

चौथा : शीला भी तो किसी की नहीं हुई। वह भी बंद थी। कहीं।

पहला : मां तो नहीं होने वाली थी?

दूसरा : किसके बेटे की?

तीसरा : तुमने बेटे क्यों कहा? वह पेट की चीज़ बेटी भी तो हो सकती थी।

चौथा : लेकिन गाड़ियां ठीक वक्त पर आएं-जाएं तो इतनी कोफ्त नहीं होगी। हम पिछला सोच-सोचकर उत्तेजित नहीं होंगे।

पहला : गाड़ियां हमें बूढ़ा बना देती हैं।

दूसरा : तुम्हारा मतलब?

तीसरा : स्टेशन के ऊपरवाली घड़ी क्यों रुक गई है?

चौथा : घड़ियां क्यों रुक जाती हैं?

पहला : क्योंकि वे चल नहीं पातीं।

दूसरा : भारत में अंग्रेज चल रहे हैं। अंग्रेजी चल रही है। अंग्रेजी खूब चल रही है। अंग्रेजियत चल रही है। पर उनकी लगवाई घड़ी नहीं।

तीसरा : चलते रहने का शीला ने भी वादा किया था। एक बार रुकी तो रुक गई।
[*लाउडस्पीकर पर सूचना देता पुरुष स्वर* : अब हावड़ा को जाने वाली गाड़ी पिछले स्टेशन से छूट चुकी है। शीघ्र ही यहां पहुंचेगी। रेलवे अधिकारी इस देरी के लिए क्षमाप्रार्थी हैं।]

तीसरा : अच्छा होता पुरुष की जगह यह सूचना नारी-कंठ द्वारा प्रसारित की जाती।

दूसरा : क्यों?

पहला : तुम निश्चय तोड़ रहे हो। हमने निश्चय किया है कि किसी कही गई बात के संबंध में तुरंत प्रश्न नहीं करेंगे। इतिहास की तरह वक्त लेंगे।

तीसरा : हिंदुस्तान की परेशानियों की जिम्मेदारी अब अंग्रेजों पर नहीं छोड़ी जा सकती। 1947 में भी यह सच था और अब भी।

चौथा : लेकिन अंग्रेज कंजूस था। कम लोगों को नौकरी देकर पैसा बचाता था। कम लोगों से ज्यादा काम करवाता था। अब ज्यादा लोग कम काम करते हैं।

दूसरा : भारत की जनसंख्या में बहुत वृद्धि हई है। अंग्रेजों के चले जाने से ही।

पहला : हमने निश्चय किया है कि हम एक समूचे देश की आलोचना या उस पर

टिप्पणी नहीं करेंगे। देश 'ऐब्स्ट्रैक्ट' चीज़ होता है। लोग ही यथार्थ हैं। जैसे यह स्टेशन। जैसे पंजाबी गेहूं की यह ठसाठस भरी बोरी।

तीसरा : शीला अपने को यथार्थवादी कहती थी। बॉटम-लाईन भी।

दूसरा : वह वक्त की नाड़ी पहचानती थी, इसीलिए चली गई।

चौथा : हिंदुस्तानी वक्त की नाड़ी नहीं पहचानता।

तीसरा : अंग्रेज पहचानता है।

पहला : हिंदुस्तानी के लिए वक्त की अहमियत नहीं होती।

दूसरा : हम फिर वही गलती कर रहे हैं। फिर एक समूचे देश पर टिप्पणी दे रहे हैं।

पहला : शीला वक्त की पाबंद थी। वह एक साथ कॉलेज के तीन लड़कों को वक्त देती थी। पर आधे-आधे घंटे बाद।

चौथा : जब अंग्रेज थे तब इस घड़ी की दो लोग देखभाल करते थे। एक मिस्त्री। एक इसका हिसाब-किताब रखने वाला।

पहला : अब?

चौथा : तीन। एक दिल्ली से लिएजॉ रखने वाला भी।

दूसरा : तो चलती क्यों नहीं?

तीसरा : वक्त पर किसी का वश नहीं।

पहला : तुम निश्चय तोड़ रहे हो। हमने तय किया है कि हम हारी-हारी बातें नहीं करेंगे। अगली पीढ़ी के प्रति हमारी कुछ जिम्मेदारियां हैं।

चौथा : आज इस स्टेशन पर गर्मी दो साल पहले वाले दिन से ज्यादा है।

पहला : उस दिन हम इतना थके हुए नहीं थे। उम्र भी दो साल कम थी।

दूसरा : और वह दिन बुधवार नहीं था।

तीसरा : लेकिन वह मई का महीना था। दो दिन बाद के शुक्रवार को भी दो साल पहले, इस महीने कड़ाके की गर्मी पड़ती थी।

चौथा : बात तर्कसंगत लगती है। दो दिनों के अंदर इस मुल्क में मौसम नहीं बदलता। इंग्लैंड में बदलता है।

दूसरा : काश, तुम थोड़े दिनों के लिए यूरोप न गए होते। तुमसे इतना नहीं सुनना पड़ता।

तीसरा : तुम्हारा मतलब, जिसकी जरूरत नहीं, उसे नहीं सुनना पड़ता।

चौथा : अंग्रेज लड़कियों का दिल हर दिन बदलते मौसम की तरह बदलता है।

पहला : जवान लड़की का दिल, हर जगह, अंग्रेजी मौसम की तरह बदलता है।

चौथा : अंग्रेज औरतें यहां गर्मी से इस कदर परेशान रहती थीं कि उन्हें अपने शरीर का ताप मिटाने के लिए कई तरह के इंतजाम रखने पड़ते थे।

तीसरा : गर्मियों में शीला को भी अतिरिक्त गर्मी लगती थी। त्रस्त हो जाती थी।

दूसरा : इतनी कि जब संजय लू लग जाने के कारण बीमार, अस्पताल में पड़ा था, तब वह गर्मी अधिक होने के कारण उसे देखने तक नहीं गई।

पहला : गर्मी तो बहाना था। पिता रोके रहता था।

चौथा : हम फिर निश्चय तोड़ रहे हैं। हमने तय किया है कि किसी की कही हुई बात का दूसरा खंडन या स्पष्टीकरण नहीं करेगा।

तीसरा : उम्र के साथ-साथ हमारे शब्दों का भंडार कम होता जाएगा, अगर हम अपनी पाबंदियां एक साथ लगा देंगे अपने ऊपर।

दूसरा : मौन तब अर्थ देगा।

पहला : तो मिलेगा क्या? उससे।

तीसरा : तुम्हें मुक्ति मिल जाएगी। तुम कालातीत हो जाओगे। तुम समय को निमिषों में नापोगे। यह स्टेशन का आधा घंटा एक निमिष लगेगा।

पहला : हम फिर अपने निश्चय की सीमा के बाहर निकलने लगे हैं। हमने तय किया है कि हम कभी भी उपदेशक का या दार्शनिकों का वस्त्र नहीं पहनेंगे। किसी चीज़ को शब्दांडबरों का पीतांबर नहीं ओढ़ाएंगे।

तीसरा : शीला को पीतांबर पसंद था। वसंत ऋतु में वह पीतांबर पहनकर अपने को 'ऋतुमती धरती' कहती थी।

दूसरा : 'ऋतुमती' का क्या अर्थ है? आयुष्मती जैसा ध्वनित होता है।

पहला : फिर वही बात ... स्टेटमेंट के बाद, प्रश्न।

तीसरा : अच्छा हो कि हम अब व्यतीत को न कुरेदें। सब मर चुका है।

दूसरा : क्यों होता है, जब हम साथ होते हैं, तो हमें कुछ कहना-बोलना जरूरी लगता है।

पहला : क्यों होता है कि हम एक-दूसरे के सामने मौन नहीं रह सकते।

चौथा : ऐसा क्यों होता है? हम जब भी मिलते हैं तो भीतर का सब कुछ इस तरह फूटने-उमड़ने लगता है जैसे लकड़ी का पुल तोड़ती नदी झकझोरकर बहने लगती हो।

तीसरा : क्यों होता है कि हम अपने निश्चयों पर अटल नहीं रह सकते। निश्चय करके भी प्रश्नों पर प्रश्न किए जा रहे हैं—पूरी तरह यह जानते हुए कि उत्तर नहीं मिल सकता। इन बातों का या इस जैसी बातों का कभी भी।

[*लाउडस्पीकर पर* : अब कुछ ही मिनटों में हावड़ा जाने वाली गाड़ी पहुंचने वाली है। यात्रीगण तैयार हो जायें।]

पहला : अगर यह सूचना नारी-कंठ से ...

दूसरा : [*बात काटते हुए*] इस विषय पर हम बातें कर चुके हैं। हमने निश्चय किया कि हम आगे अपने को दुहराएंगे नहीं। अच्छा हो कि हम भविष्य में किए जाने वाले अपने निश्चयों पर ध्यान दें।

तीसरा : तो निश्चय रहा कि हम दो साल बाद इसी जगह फिर मिलेंगे।

पहला : हां।

दूसरा : हां।

तीसरा : हां।

चौथा : हां।

पहला : दो वर्ष बाद इसी तारीख को न?

दूसरा : हां।

तीसरा : हां।

चौथा : हां।

पहला : लेकिन हममें से, तब तक, कोई मर गया तो?

दूसरा : तो हम उसकी याद को लेकर मिलेंगे। पर उसका मूल्यांकन नहीं करेंगे।

तीसरा : और ... और जो मर जाएगा उसके बारे में बातें नहीं करेंगे। वह हमारे लिए नहीं हुए की तरह होगा।

चौथा : क्यों नहीं! शीला के मर जाने के बाद भी हम उस पर बातें करते रहे। हम सबका कभी न कभी उससे संबंध रहा, इसीलिए?

तीसरा : घड़ी के मर जाने के बाद भी घड़ी के बारे में स्टेटमेंट देते रहे। क्यों?

पहला : क्योंकि शीला मरी नहीं, मारी गई। और घड़ी भी मरी नहीं है। मेरी अंतरात्मा कहती है कि घड़ी की भी एक दिन मरम्मत होकर ही रहेगी। नहीं तो दिल्ली को पछताना पड़ेगा।

दूसरा : मुझे भी यही लगता है।

तीसरा : मुझे भी।

चौथा : और मुझे भी।

पहला : लेकिन हम ठीक वक्त पर नहीं मिल पाएंगे। क्योंकि घड़ी रुक गई है।

तीसरा : लेकिन तुमने अभी कहा कि तुम्हारी भी अंतरात्मा कहती है कि इस घड़ी की मरम्मत अवश्य हो जाएगी।

दूसरा : तो हमारा एजेंडा बिलकुल तय नहीं हो पा रहा है। यानी, हम नहीं तय कर पा रहे हैं कि अगर हममें से कोई मर गया तो उस पर बातें करेंगे या नहीं।

तीसरा : यह तय इसलिए नहीं कर पा रहे हैं कि हमें इस बात का अभी तक ठीक पता नहीं कि हम तब तक जीवित भी होंगे या नहीं।

पहला : यह तर्कसंगत बात हुई।

दूसरा : नो वाहवाही। नो टिप्पणी—प्लीज़।

तीसरा : तो ऐसा कर सकते हैं कि दो साल बाद, इसी तारीख को इसी दिन, दो बजे मिलें।

चौथा : लेकिन यह जरूरी नहीं कि दो साल बाद इसी तारीख को यही दिन पड़े।

पहला : हां, यह बात ध्यान देने योग्य है।

दूसरा : मुझे भी लगता है।

तीसरा : और मुझे भी।

चौथा : एक अमेंडमेंट किया जा सकता है। दो बजे की जगह हम 'लगभग दो बजे' तय करें।

दूसरा : 'लगभग' क्यों?

चौथा : क्योंकि निकटतम इकाईयों में ज्यादा गुंजाइश होती है।

पहला : अच्छा तो 'लगभग' तय हुआ।

दूसरा : ठीक है।

तीसरा : मुझे भी लगता है।

चौथा : तो अब अंतिम समस्या इस संबंध में दिन चुनने की रही।

दूसरा : हम यह 'लगभग' मान चुके हैं कि दो साल बाद इस तारीख को शायद यही दिन 'बुधवार' न पड़े। तो एक दिन के बजाय तारीख को ही महत्त्व दें।

तीसरा : हां। अगर दिन बुधवार न भी हुआ, आज का दिन, दो साल बाद तो भी महीने में 22 तारीख जरूर पड़ेगी।

पहला : और मई का महीना भी।

चौथा : कम होता है कि दो महत्त्वपूर्ण बातें इस तरह साफ-साफ दिखने लगती हों। इतना स्पष्ट। एक साथ।

दूसरा : तो ठीक रहा।

तीसरा : मेरे लिए भी।

चौथा : मेरे लिए भी।

पहला : मेरे लिए भी।

दूसरा : तो हम आखिरी बार एक दूसरे-तीसरे-चौथे को बिना कुछ बोले स्पष्ट भाव से निर्लिप्त मन से देखकर चल दें।

चौथा : मंजूर है।

तीसरा : मुझे भी।

दूसरा : मुझे भी।

पहला : और मुझे भी।

[वे सब एक-दूसरे के सामने उठकर खड़े हो जाते हैं। कोई एक मिनिट एक-दूसरे-तीसरे-चौथे को आंखें फाड़कर ध्यान से देखते हैं, फिर मुड़कर चल देते हैं, जैसे उसी गाड़ी के अलग-अलग डिब्बों की ओर जा रहे हों।] □

पर्दा

कात्यायनी कहती है

सुनीता जैन

आस्थाविहीन परिवेश में आस्था के स्वर की तलाश सुनीता जैन की कविताओं की विशेषता है। अंग्रेजी और हिंदी में एक साथ लेखन।

कात्यायनी कहती है
बंद करो यह
शोर सभी

मैं कहती हूं
होने दो,
पहले से दूना तिगुना

ऐसे ही किसी पड़ाव पे
उगता है सूरज,
छंटता है कोहरा

और बाजू में खड़े हुए
वे
दिख जाते हैं,
सह-कर्मा
सह-धर्मा

क्या बुरा है

क्या बुरा है
कल्पना में प्यार करना,
स्वप्न से सपने सटा कर
स्वप्न का आधार रखना

क्या बुरा है मान लेना
तुम वहीं वैसे
खड़े हो

क्या बुरा है सोचना कि
लौट कर मैं आ गई हूं

क्या बुरा है
खंदकों के
रास्ते यों पार करना। □

इस रिश्ते को क्या नाम दूं

प्रताप सहगल

नाटक के क्षेत्र में अनेक नये प्रयोगों के साथ कविता में अपने अलग स्वर के लिए प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित कवि, नाटककार तथा आलोचक।

सड़क पर
जब मैंने पांव रखा
पांव और सड़क के रिश्ते में
थरथराहट हुई।

चलता रहा
सड़क पर
और रिश्ता गहराता रहा।

कहां से शुरू होती है
सड़क
कहां पर खत्म
बार-बार जानने की इच्छा
कभी जंगलों
और कभी समुद्र-तल तक ले गई।

जंगल को घेरती है सड़क

समुद्र को चीरती है सड़क
क्षितिज से भी परे
आसमानों को भेदती
कहीं निकल जाती है सड़क
कभी कहकशां
और कभी फूलों का सैलाब
बन जाती है सड़क।

कोई सिरा हाथ नहीं आता
कोई टुकड़ा
टुकड़े का भी कोई अंश
बार-बार फिसल जाता है हाथों से
पर सड़क से रिश्ता कायम है
जैसे नाखून और मांस का रिश्ता
रिश्ता आंख और पुतली का
या दिल और धड़कन का।

सड़क नहीं चुकती कहीं भी
चुकता हूं मैं
सड़क नहीं थकती
थकता हूं मैं
नहीं रीतती सड़क कभी भी
रीतता हूं मैं
सड़क नहीं रुकती
रुकता हूं मैं

सड़क जिन्दा है
अपनी निरन्तरता में
रहस्यों को अपनी गोद में खिलाती
और थपथपाती
कनपटी के ठीक नीचे
धीरे-धीरे—

सड़क ज़िन्दा है
सदियों के बहाव के बावजूद
ज़िन्दा है सड़क
अपनी निरन्तरता में
और मैं भी कहीं
हल्की-सी थरथराहट के साथ
सड़क पर
सड़क के साथ। □

उठा नहीं सूरज बिस्तर से

अश्वघोष

गांव की सोंधी गंध, नए प्रतीक तथा बिम्ब अश्वघोष के गीतों में लयबद्ध होकर आते हैं। संवेदनहीन होते परिवेश के लिए चिंतायुक्त सजग रचनाकार।

पता नहीं किस ज़ालिम डर से
उठा नहीं सूरज बिस्तर से

मुंह पर हाथ धरे कोलाहल
सोच रहा इस जड़ता का हल
पक्षी व्याकुल बुरी खबर से
उठा नहीं सूरज बिस्तर से

चूल्हा लेता है अंगड़ाई
अभी गोद में आंच न आई
चूक हुई क्या पूरे घर से
पता नहीं किस ज़ालिम डर से

तरस रहे पोथी में आखर
गूंजे नहीं चेतना के स्वर
बंद पड़े हैं खुले मदरसे
उठा नहीं सूरज बिस्तर से।

नदी का दर्द

पत्थरों के बीच में निर्वस्त्र-सी
सिर पटकती है नदी

पेड़ हैं खामोश, जड़ से दूर हैं
पक्षियों के हौसले मजबूर हैं
त्रासदी, यह इस सदी की त्रासदी
सिर पटकती है नदी

प्यास के रिश्ते, अचानक कट गये
तृप्तियों के स्वर, वचन से हट गये
शायद यही संवेदना मन पर लदी
सिर पटकती है नदी

कौन कहता है, किनारे ढाल हैं
दूर से हंसते हुए कंकाल हैं
डर रही, आते हुए अगली सदी
सिर पटकती है नदी।

□

हार

मनोहर वंद्योपाध्याय

अंग्रेजी और हिंदी में समान रूप से सक्रिय कवि। 'कामायनी' का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद।

हार होती रही
हमेशा
कोई दुःख नहीं।
तमाम कोशिशों के बाद
कुछ भी न लगा
हाथ
जो थोड़ा
संबल था
वह भी लुट गया।
मगर
सब-कुछ खोकर भी
मैंने
आत्मा बचा ली
यही मेरी उपलब्धि
यही एक सुख है।

आस्था

उसने
पत्थर से नाता जोड़ा
और संकटों से
बचने के लिए निश्चिन्त हो गया।
या
बटोर ली ताकत
कष्टों को सहने के लिए
उसका विश्वास सही निकला
उसने पत्थर के सामने
समर्पण कर दिया
कुछ चमत्कार हुआ
उसकी यातनाएं कम हुईं
या
उसने स्वयं संकट को दूर किया
उसकी आस्था
केवल पत्थर पर रह गयी
ऐसा तब हुआ
जब
आदमी का
आदमी से
विश्वास उठ गया। □

रंग और खतरा

प्रो. फूलचंद मानव

पंजाब के खुले परिवेश की गंध और आत्मीयता से युक्त फूलचंद मानव की कविताओं का अलग रंग है। पंजाबी और हिंदी में रचनात्मक सक्रियता।

चटखते-चहकते रंग
जब खतरे में बदल जाते हैं
तो जीवन हो जाता बेमानी
और रंग सिर्फ पानी
कैसी त्रासदी है!
रंगों से खेलता कलाकार
खुशियों के खजाने खोलता है
मन की भाषा खोलता
रेखाओं-तूलिकाओं की जिज्ञासा तक
जीवन का सत्य बोलता है।

बिखरते रंग मुस्कराते हैं
गमगीन निगाहों को गुदगुदाते
समय के साथ, बहुत आगे आ जाते हैं
कि जोड़-तोड़ के क्रम में भी
दोस्ती निभाते हैं

जिंदगी और मौत के बीच
रंग एक मायना है

संदर्भ बदलता है
तो किसी से कुछ भी नहीं कहता है
गंभीर घायल साथियों को
पीछे सरकाकर
फुलवारी में होली, दिवाली मनाकर
उदासी संग क्यों वनवासी हो जाते हैं रंग
खेतों से बाहर भी कराहते नहीं
साथ-साथ सराहते हैं रंग। □

पर्यावरण

बी.डी. कालया 'हमदम'

ज़िंदगी की भागदौड़ में मूल चिंताओं से जूझते बी.डी. कालया ***'हमदम'*** *खामोशी से अपने रचनाकर्म में लिप्त रहते हैं। एक ग़ज़ल-संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित।*

फूल से खुशबू तो कांटों से चुभन ले जाएगा
यह प्रदूषण जिन्दगी का बाँकपन ले जाएगा।

ये हवाएं ये बहारें चांदनी मौसम फ़ज़ा
ओढ़कर ये धूप का भी आवरण ले जाएगा।

ये धरा निर्जन ही क्या निर्जीव भी हो जाएगी
शून्य के सागर में इसको बांझपन ले जाएगा।

यूं बिगड़ता ही रहा पर्यावरण का जो मिज़ाज
देखना ये एक दिन सारा चमन ले जाएगा।

दिन का सौदागर है दिनकर शाम को तुम देखना
बांधकर गठरी में ये इक इक किरण ले जाएगा।

जब प्रलय के बाद पूछोगे धरा का तुम पता
क्या पता फिर किस क्षितिज पर ये गगन ले जाएगा।

ज़िन्दगी और मौत का निर्णय तुम्हारे हाथ है
जिस तरफ चाहोगे तुम, पर्यावरण ले जाएगा।

हम जिएं औरों को भी जीने दें 'हमदम' प्यार से
ज़िन्दगी के द्वार पर यह आचरण ले जाएगा। □

मां का हाथ

शिवप्रसाद समाद्दार

शिवप्रसाद समाद्दार बांग्ला, अंग्रेजी और हिंदी भाषाओं के प्रतिष्ठित लेखक हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा में अनेक उच्च पदों पर रहे। सेवा-मुक्ति के पश्चात् पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की।

आज भी जब संध्या उतरती है तम के साथ
निद्रा पसारती है आंचल धरती पर
मैं तुम्हारी हथेली पर देखता हूं भू का मानचित्र
सात वर्षीय अपनी स्मृतियों के साथ
नदी तट पर हूं खड़ा मैं एक गहरा वृक्ष जैसा
साठ के उस पार धुंधलाती मेरी आंखें।

तुम्हारे दाएं हस्त का स्पर्श अविरत है
परिवार के धूमिल चित्र में
मैं तुम्हारे हाथों से पहने हुए वस्त्रों में
चुन्नट पड़ी धोती में और गुलदस्ता थामे
गोद में बैठा डेढ़ वर्ष छोटा मेरा भाई
तुम दाएं हाथ से मुझे थामे हुए।

पूजा के दिनों में अपने गांव की यात्रा पर
अपने ननसाल जाया करते थे हम

छत्र वाली नाव पर दुर्गा के विसर्जन के बाद
कभी सूर्योदय के समय धान के पौधों के बीच
केसरिया जल में निमग्न
कभी सुरमई नदी पर अस्त होते सूर्य के
सभी रंग मैं तुम्हारी हथेली पर देखता
क्षितिज पर होता आकाश एवं धरती का मिलन।

मुझे अपने दो वर्षीय पुत्र को तुमने फ्रॉक पहनाया
लाल फूल, हरी पत्तियां और पीली टहनियां
अपने हाथ से काढ कर अपने हृदय की उष्मता के साथ
मैंने अपनी पुत्रियों और पौत्रों को वह फ्रॉक पहनाया
तुम्हारे हाथ का स्पर्श उन्हें भी रंजित करे।

तुम्हारे हाथ की एक और कृति है लाल और नीले ऊन की
एक बारहसिंघा युगल झरने के निकट
सन्निधान की मुद्रा में खड़े
नीचे तुमने उद्धृत किया है एक दोहा
''पति प्रज्ञा है विचार और ईश्वर
पत्नी को चाहिए उसकी चरण सेवा करनी''

तुम बहुत विनीत नहीं, किन्तु कुछ सुकुमार थीं
भोजन तैयार करने, खिलाने और बर्तन धोने के बाद
दोपहर को लेटी रहती थीं तुम
हमारी शैतानियां और उछल-कूद घर को हिला देतीं
चेतावनी देती तुम पिता के आने पर शिकायत होगी
जब भी पिता द्वारा पिटाई होती
मुझे ध्यान आता तुमने कभी न उठाया था हाथ
तुम्हारे अरक्तक हाथ में चढ़ाया गया रक्त
पिता की नीली शिराओं से,
मेरे बाल-मन में भर उठती सहानुभूति
वे कितने दयालु और स्नेहशील थे तुम पर
कभी न जान पाया तुम्हारा क्षीण हाथ सशक्त न हो सकेगा

केवल कच्चे केले और मेजर मछली के झोल से
प्रति वर्ष बच्चे को जन्म देते तुम कितनी दुर्बल हो गई थीं।

किशोरावस्था में मुझे निद्रा-विचरण रोग हो गया
कुछ लोगों ने कहा मां का इशारा है
जल छिड़कने और कसकर झिंझोड़ने पर
अपनी आंख खोलता और तुम मुंह पोंछती
तुम्हारे हाथ का स्पर्श अभी भी मेरे मस्तक और तन पर छाया है
वैसा ही जैसा बचपन में तुमने किया था
आज मेरी सभी राहें, गन्तव्य और निवास
मेरे चारों ओर हो गए हैं एकाकार
मेरे सिर के ऊपर तारामंडल में तुम स्थित हो
और हम उस विशाल ज्योतिपुंज में साझीदार हैं
अभी भी मैं तुम्हें धरती के पास देखता हूं
और सारी भूमि तुम्हारे हाथ के रूप में पाता। □

शेष से विशेष

सुनीता शर्मा

युवा कवयित्री। जिंदगी के मुहावरे को शब्दों में पिरोने में सृजनरत।

शेष से विशेष
होने के क्रम में
जिन दहलीजों को
लांघते रहे
वे निश्शेष ही
करती रहीं
लघु कोमलताओं को।
मानवता
लहूलुहान होती रही।

जिंदगी

मुट्ठी भर
सांसों में
तलाशते रहे
चुटकी भर-सी
जिन्दगी

वह भी
भटकती रहती है
राशन की
लाइनों से
डेसू के रास्तों तक
लाइसेंस की
दुकानों से
राजनीति के वितंडों तक
जब थमेगी
तब पकड़कर
पूछेंगे
कहो, कैसी हो जिंदगी? □

तीसरी लड़की

हरिप्रकाश त्यागी

बिम्बों को पकड़ने की चित्रकार दृष्टि कविताओं में किस तरह शब्दों में उतरती है इसे हरिप्रकाश त्यागी की कविताओं के माध्यम से जाना जा सकता है।

लड़की पत्रिका में
कविता सूंघती
कविता धीरे-धीरे
उसकी देह में भटकती
लड़की आराम से
पुस्तक में बदलती

हिचकी

जोर
बहुत जोर से आई हिचकी
दूर बहुत दूर बैठे
दोस्त ने किया याद
आज भी आदमी

आदमी को करता है याद?
तुम्हें भी आ रही होंगी
हिचकियां
लांघती नदी, पहाड़ व
नापती दूरियां।
सिर्फ हिचकियों के सहारे ही
बची रहेगी यह पृथ्वी।

चौथी लड़की

हरे भरे लॉन में
नीले पोखर पर
वायुयान बनी
तनी है लड़की
पतंग की तरह
लड़की अभी अभी
नहायेगी पोखर में
मैं हवा में
सपने-सा गुजर जाऊंगा।
□

महामति प्राणनाथ

डॉ. शकुन्तला गुप्ता

मध्ययुग में अनेक संत कवियों ने सामाजिक रूढ़ियों का विरोध करते हुए ऊंच-नीच से मुक्त समाज के निर्माण का प्रयत्न किया। महामति प्राणनाथ प्रणामी संप्रदाय के प्रवर्तक हैं। उन्होंने एकांगी, रूढ़िवादी तथा कर्मकाण्डी भारतीय समाज के विरुद्ध विद्रोह का बिगुल बजाया। डॉ. शकुंतला गुप्ता स्वयंसेवी हैं। उन्होंने प्रणामी संप्रदाय पर शोध किया है। महामति प्राणनाथ के सामाजिक योगदान और उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व को उन्होंने रेखांकित किया है।

भारत के मध्यकालीन इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है मध्यकालीन भक्ति आंदोलन।

मध्य युग में मध्य प्रदेश का सूबा हिंदुस्तान कहा गया और यह प्रदेश हमेशा सांस्कृतिक हलचल का केंद्र रहा। मध्य युग में इस प्रदेश की भाषा को मध्य देशी या हिंदवी या हिंदी कहा गया है। जब हम तत्कालीन इतिहास की ओर दृष्टिपात करते हैं तो विदित होता है कि मध्य युग में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में अनेक कुप्रवृत्तियां और कुप्रथाएं वर्तमान थीं। पूरे देश के समाज में दो वर्ग प्रधान थे—हिंदू और मुसलमान।

17वीं शती के इतिहास में बहुसंख्यक हिंदू जनता का अनेकविध शोषण हो रहा था एवं उनकी धार्मिक स्वतंत्रता पर भी तत्कालीन शासक समाज निर्मम प्रहार कर रहा था। फलस्वरूप देश के आक्रांत जीवन में सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन था, ऐसे ही कठिन समय में महामति प्राणनाथ का आविर्भाव हुआ।

मुगल बादशाह अकबर और दारा शिकोह क्रमशः दीन इलाही तथा सूफी संप्रदायों

को धर्मदृष्टि देकर जनजीवन में एक प्रकार का धार्मिक सुधार लाने का उद्योग कर रहे थे। इस तत्त्वदृष्टि को प्राणनाथ जी ने पूर्ण रूप से भारतीय धर्म चिंतन का अंग बनाने का उद्योग किया। दोनों समाजों की गिरती हुई दशा को ध्यान में रखकर एक ऐसे धर्म का प्रवर्तन किया जिसे हम मानव धर्म या विश्व धर्म की संज्ञा से विभूषित कर सकते हैं।

अपने मानव धर्म की संस्थापना में श्री प्राणनाथ को कठिन संघर्ष करना पड़ा। श्री प्राणनाथ ने तर्क शास्त्रार्थ के माध्यम से अन्य मतावलंबियों पर अपनी विजय स्थापित की। यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है। युद्धक्षेत्र में परास्त हिंदू राजे इस सांस्कृतिक टकराव या बिखराव की समस्या का समाधान नहीं खोज सके।

इस संसार के पारंपरिक अगुआ पंडित, पुरोहित, पंडे तथा काजी, मौलवी मुल्ला ने धर्म, समाज, संस्कृति को और अधिक एकांगी, रूढ़िवादी, कर्मकाण्डी बना दिया। फलतः हिंदू और मुसलमान अधिक कर्मकाण्डी मुसलमान बन गया। इस बिखराव की खाई को पाटने के लिए सांस्कृतिक प्रदास अभिनायकों ने किया जिन्होंने राष्ट्रव्यापी भक्ति आंदोलन का प्रर्वतन किया और जन-जीवन को जागृत किया। संत कवियों ने निराश जन-जीवन को आशा- जल से सिंचित किया।

प्राणनाथ जी के दीक्षागुरु देव चंद्र जी श्रीमतु मेहता तथा कुंवर बाई के इकलौते पुत्र थे। उनका जन्म मारवाड़ के उमर कोट गांव में हुआ था। श्रीमतु मेहता उत्तम कायस्थ जाति के बड़े धर्मनिष्ठ और धनाढ्य व्यापारी थे। उमर कोट तथा भोज नगर के मध्य बहुमूल्य वस्तुओं का व्यापार करते थे। बाल्यकाल में ही देवचंद्र अपने पिता के साथ भोज नगर (कच्छ प्रदेश) हो आए। तेरह वर्ष की उम्र में ही देवचंद्र जी भोज नगर की ओर चल पड़े। बाल्यकाल से ही उनमें अभूतपूर्व आध्यात्मिक क्षमता विकसित हो गई थी, वैराग्य की भावना ने उन्हें एक दिन विरक्त बना दिया। देवचंद्र जी सच्चे गुरु के लिए अधीर हो उठे। इनके माता-पिता तथा पत्नी लीलाबाई का भी परमधामवास हो जाने के बाद तारतम मंत्र की शरण ली।

संवत् 1687 में 12 वर्ष, एक मास तथा 14 दिन की आयु में प्राणनाथ जी ने सर्वप्रथम देवचंद्र जी के दर्शन किए और वहीं पर प्राणनाथ जी को देवचंद्र जी ने तारतम मंत्र दिया। महामति का वाणी तारतम की वाणी है।

महामति प्राणनाथ प्रणामी संप्रदाय प्रर्वतक थे और दीक्षा लेने के बाद से ही गुरु के परम शिष्य तथा परम भक्त बन गए थे।

महामति प्राणनाथ जिस समय अवतीर्ण हुए थे उस समय हमारे देश में धर्म, संप्रदाय और संस्कृति अपनी तमाम सीमाओं और विकृतियों के साथ विद्यमान थी। उन्होंने उस युग का प्रतिनिधित्व किया तथा धर्म का सच्चा स्वरूप बताया, इतिहास की यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उस युग में भयानक उत्पन्न परिस्थितियों में भारत देश की धार्मिक, सामाजिक,

राजनैतिक क्रांतिकारी परिवर्तन लाए, सभी धर्म को मानने वाले उनकी शरण में आए और धार्मिक एकता में एकसूत्र में बांधने का यत्न किया। अपने ज्ञान के द्वारा मानवता को अध्यात्मिक मार्ग दिखाया और लौकिक कार्यों से प्रभावित किया। महामति प्राणनाथ ने जाति-पाति, ऊंचा-नीचा, छुआछूत—इन सबके विद्रोह के खिलाफ सामाजिक समानता लाने के लिए इनका प्रयास अनूठा प्रयास था। उन्होंने ऐसे समाज का गठन किया जिसमें ब्राह्मण, चांडाल, ऊंचा-नीचा, स्त्री-पुरुष समान रहे।

महामति ने अपनी दिव्य दृष्टि से वैमनस्य के कारणों को खोज निकाला एवं उन्हें जड़ से निर्मूल करने का प्रयास किया, धर्म का मार्ग बताकर मानवता के तुच्छ विचारों का त्याग करने की प्रेरणा दी और आत्मज्ञान द्वारा माया के बंधन से छुड़ाकर उस परमात्मा की ओर ले जाना चाहा जिधर सब धर्म और संप्रदाय ले जाना चाहते थे। महामति प्राणनाथ ने कहा कि परमात्मा एक है और सब धर्म एक ही मार्ग पर जाते हैं, परमात्मा की ओर ले जाने वाला मार्ग एक ही है। □

राजनीतिक दलदल में सत्य की खोज का सार्थक प्रयास

प्रेम जनमेजय

विश्व में बहुमुखी प्रतिभाएं देखने को कम मिलती हैं। आधुनिक परिदृश्य में राजनीति और साहित्य के मूल्य विरोधात्मक स्वर की गूंज अधिक गुंजित करते हैं। राजनीति का अर्थ, विशेषकर हमारे देश में, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, सत्ता-लोलुपता आदि का पर्याय बनकर रह गया है। बहुत अधिक आवश्यकता इस बात की अनुभव की जा रही है कि साफ-सुथरे व्यक्तित्व राजनीति को सही दिशा दें। साहित्यकार और चिंतक राजनीति के गहराते संकट पर निरन्तर अपनी चिंता अभिव्यक्त कर रहे हैं। जयशंकर प्रसाद ने कामायनी में जीवन की विडम्बना की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा था—ज्ञान दूर क्रिया कुछ भिन्न है/इच्छा क्यों पूरी हो मन की। मुझे लगता है कि हमारे समाज में राजनीति, साहित्यकार तथा चिन्तक की बढ़ती हुई आपसी दूरियों ने हमें भ्रष्ट और मूल्यविहीन समाज की ओर ढकेला है। आवश्यकता है इनमें सांमजस्य की। जब कोई ऐसा महापुरुष जन्म लेता है जिसमें इन तीनों का सामंजस्य होता है तो समाज को नयी दिशा देता है। गांधी जी में यह प्रतिभा थी तभी वह भारतीय राजनीति और समाज को ही नहीं, पूरे विश्व को एक नयी दिशा दे सके। ऐसी ही दिशा चेक गणराज्य के राष्ट्रपति वात्सलाव हावेल दे रहे हैं।

वात्सलाव हावेल विश्व के प्रमुख नाटककार, निबंधकार, कवि, चिन्तक, राजनेता हैं। चेकोस्लोवाकिया में साम्यवादी एकदलीय शासन को समाप्त करने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। पांच वर्ष तक जेल की सलाखों के पीछे रहे परन्तु उन्होंने जनता के लिए अपने संघर्ष को निरन्तर रखा। वह न्यायपूर्ण अधिकारों के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। 1994 में उन्हें इंदिरा गांधी शान्ति पुरस्कार से सम्मानित किया गया। साम्यवादी शासन के विरूद्ध उनका संग्राम पूर्णतः अहिंसक था।

वात्सलाव हावेल जनता के न्यायपूर्ण अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले समर्पित राजनेता ही नहीं हैं अपितु चर्चित नाटककार, कवि एवं चिंतक भी हैं। साहित्य के प्रति उनकी रुचि छात्र जीवन से ही थी। आवश्यक सैनिक सेवा पूरी करने के उपरान्त उन्होंने रंगकर्म को अपना क्षेत्र बना लिया। वात्सलाव हावेल का मानना है कि लेखक अपने आरंभिक अनुभवों को जब परिपक्व दृष्टि से देखता है तो यह अनुभव उसके लिए स्रोत का रूप ग्रहण कर लेते हैं। उनका मानना है—''जब कोई लेखक बीस वर्ष का होता है तो इस संसार के उसके आरंभिक अनुभवों के बारे में उसकी दृष्टि परिपक्व होने लगती है, और एक ऐसे स्रोत का रूप लेने लगती है, जिससे आने वाले वर्षों में वह शक्ति ग्रहण करता है। प्रारंभ में सर्तकता से मार्ग की खोज के बाद इस आयु में वह एक गंभीर मनःस्थिति में आने लगता है।''

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् तथा न्यू एज इन्टरनेशनल द्वारा प्रकाशित वात्सलाव हावेल के विचारात्मक निबंधों का संग्रह 'सत्य की खोज' एक आवश्यक पुस्तक है। इस पुस्तक का कुशल सम्पादन हिंदी-भाषी जनता के सुपरिचित, प्राहा के प्राचीन और प्रतिष्ठित चार्ल्स विश्वविद्यालय के प्राच्य भाषा विभाग के डॉ. आदोलेन स्मेकल ने किया है। 'अनुवाद' पत्रिका के संपादक एवं चर्चित रचनाकार नवीन पन्त ने पुस्तक के निबंधों का समुचित अनुवाद किया है। पुस्तक में वात्सलाव हावेल के बारह विचारोत्तेजक लेख हैं।

लुतुस विश्वविद्यालय लू मिरेल के विशेष दीक्षान्त समारोह में वात्सलाव हावेल को सम्मानार्थ डॉक्टरेट प्राप्त करने के लिए आमंत्रित किया गया परन्तु पासपोर्ट के अभाव में वह नहीं जा सके परन्तु वहां देने के लिए भाषण के रूप में उन्होंने 'राजनीति और अंतश्चेतना' नामक विचारात्मक आलेख लिखा। हावेल का प्रतिनिधित्व अंग्रेज नाटककार टाम स्टायार्ड ने किया। इस आलेख में हावेल ने राजनीति के प्रति अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा है—''मैं राजनीतिक—विरोधी राजनीति के पक्ष में हूं यानि मैं राजनीति को सत्ता और हेराफेरी की प्रौद्योगिकी के रूप में नहीं, मनुष्यों के ऊपर 'साइबरेनटिक' (पशुओं और मशीनों के नियंत्रण का विज्ञान) अथवा उपयोगितावाद की कला के रूप में नहीं देखता, बल्कि लोगों के लिए सार्थक जीवन खोजने और उपलब्ध कराने और उनकी रक्षा करने और सेवा करने के रूप में मूल रूप में मानवीय और अन्य मानवों के लिए मानवीय सेवा के रूप में राजनीति के पक्ष में हूं।'' राजनीति की यह व्याख्या, ऐसा रचनात्मक दृष्टिकोण एक आदर्श लोक की स्थापना का स्वप्न लगता है। राजनीति आजकल मानव के लिए कम, अपने लिए अधिक सोच रही है। वह मात्र सत्ता हथियाने और निजी तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति का साधन बनकर रह गयी है। यही कारण है कि इस तरह के दृष्टिकोण का व्यक्ति महामानव लगता है। चाहे वह राष्ट्रीय स्तर पर हो अथवा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर, राजनीति के प्रस्तुत मूल्य देखने को कम मिलते हैं।

'राजनीतिक विरोधी राजनीति' के प्रवर्तक वात्सलाव हावेल इससे विश्व में एक बहुत बड़े परिवर्तन की आशा रखते हैं। उनका विश्वास है कि इस तरह का मूल अनुभव अवश्य कारगर होगा। वह लिखते हैं—"यह नीचे से शुरु हुई राजनीति होगी। यह संयंत्रों की नहीं, मनुष्यों की राजनीति है। यह शोध प्रबंध से नहीं, हृदय से विकसित होने वाली राजनीति है। यह संयोग की बात नहीं है कि यह आशाप्रद अनुभव यहीं इस भयंकर प्राचीर में प्राप्त किया जाना है। 'प्रत्येक दिन की तरह' के नियम के अंतर्गत हम सितारों को देख सकें इससे पहले हमें कुएं के तल तक उतरना होगा।"

वात्सलाव हावेल ने अपने एक लेख—'शब्दों के बारे में दो शब्द' में शब्द को लेकर चिंतन-प्रधान, विश्लेषणात्मक तथा गंभीर चर्चा की है, शब्दों के इतिहास से लेकर, उसके समयानुसार प्रयोग, शब्दों के प्रहारात्मक स्वरूप, उनकी उपयोगिता, उनकी शक्ति, चमत्कारिक प्रभाव आदि की चर्चा करते समय हावेल आसपास घट रही घटनाओं का विश्लेषण भी करते जाते हैं। शब्द के आरंभिक प्रयोग को हावेल ने आदान-प्रदान का सशक्त माध्यम देखा है। इसके लिए वह ईश्वर का आभार व्यक्त करते हुए लिखता है—"अगर ईश्वर के शब्द उसकी सम्पूर्ण सृष्टि का स्रोत हैं, तब ईश्वर की सृष्टि का वह भाग, जो मनुष्य जाति है ईश्वर के एक और चमत्कार—मनुष्य की वाणी अथवा वाक्शक्ति की कृपा का फल है। और अगर यह चमत्कार मानव जाति के इतिहास की कुंजी है तो यह समाज के इतिहास की भी कुंजी है। वास्तव में दोनों अपनी-अपनी जगह पर सच हैं। क्योंकि अगर वे दो या अधिक प्राणियों के बीच संचार (विचार और संदेशों के आदान-प्रदान) का साधन नहीं होते तो उनका कोई अस्तित्व नहीं होता।" यह वाणी का चमत्कार ही है कि हम एक-दूसरे के विचारों, संवेदनाओं तथा रहस्यों को जान पाते हैं। शब्दों की रचनात्मक शक्ति ही हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करती है कि हमारे आसपास गहराते रहस्य के पीछे क्या है।

शब्दों की ताकत को हावेल ने बखूबी पहचाना है। उनका मानना है कि शब्द इतने शक्तिशाली होते हैं कि वे विश्व का स्वरूप बदलने की क्षमता रखते हैं। यह शब्द ही हैं जो लोगों को जेलों में सड़ा देते हैं और यह शब्दों की ताकत ही है जो एक राष्ट्र को मुक्त करा देती है। यह शब्द ही हैं जो एक लेखक को फतवे का शिकार बना देते हैं और यह शब्द ही हैं जो संपूर्ण राष्ट्र को स्वतंत्रता के लिए जागृत कर देते हैं। शब्दों की यह ताकत देखते हुए आवश्यक है कि इनका प्रयोग सावधानीपूर्वक हो। जो शब्द लोगों को सम्मोहित करते हैं, भड़काते हैं, धोखा देते हैं, धर्मान्ध बनाते हैं और जो रास्ता भटका देते हैं, उनसे सावधान रहने की परम आवश्यकता है।

महात्मा गांधी के महान कार्य के प्रशंसक वात्सलाव हावेल ने उनसे प्रेरणा ग्रहण की है। उन्होंने स्वीकार किया है कि 'मांगपत्र 77' में किए गए कार्यों में गांधी जी की स्पष्ट

झलक है। हावेल का अहिंसक युद्ध इसी प्रेरणा का परिणाम है। हावेल गांधी जी के अहिंसक रूप के अतिरिक्त उनके धर्म-निरपेक्ष और मानवतावाद की भी प्रशंसा करते हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए गांधी जी ने जो प्रयत्न किए उनकी गहरी छाप हावेल पर है। आज फिर उन प्रयत्नों की आवश्यकता है जो गांधी जी ने विभाजन के समय किए थे। हावेल उनके इस पक्ष की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—"अगर मैं कहूं कि गांधी जी की किस बात ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया तो मैं कहूंगा कि आपके देश के स्वतंत्र होने के तत्काल बाद अपनाये गये उनके रवैये ने। वे एकदम अकेले, हिन्दू-मुसलमानों के खूनी संघर्ष के रास्ते में खड़े हो गए और उन्होंने पहले कलकत्ता में और बाद में दिल्ली में इस विनाशक निर्दय संघर्ष को रोका ही नहीं, बल्कि लड़ने वालों को हाथ मिलाने पर मजबूर किया।"

सत्य की खोज में निकले एक साफ-सुथरे राजनीतिज्ञ, विचारक तथा साहित्यकार द्वारा लिखित यह एक आवश्यक पुस्तक है। यह किताब न केवल प्रेरणा देती है अपितु अपने आसपास के वातावरण और बदलते विश्व को समझने की समझ भी देती है। भारत के राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने ठीक ही कहा है—"राष्ट्रपति हावेल एक मूल विचारक, सृजनात्मक आत्मा और एक ऐसे राजनेता हैं जिनके विचार और नेतृत्व मानव अस्तित्व की आवश्यकता और अर्थ को एक नई अत्यधिक गहरी संवेदना चेतना प्रदान करते हैं।" ऐसे व्यक्ति की रचनाओं को पढ़ना एक सार्थक उपलब्धि ही होगी। □

सत्य की खोज/लेखक : वात्सलाव हावेल/प्रकाशक : भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् तथा न्यू एज इंटरनेशनल (प्रा.) लिमिटेड/मूल्य : 600 रुपए/पृष्ठ 264

तोड़ो कारा तोड़ो : अध्यात्मवाद का राष्ट्रीय गढ़ और एक मनोमय सक्रिय आध्यात्मिक सत्संग

डॉ. विवेकी राय

स्वामी विवेकानंद जैसे युगपुरुष के जीवनवृत्त को औपन्यासिक संरचना में ढालने के लिए जैसी प्रखर और ग्रहणशील प्रतिभा-संपदा तथा लेखन-कुशलता अपेक्षित है, वैसी नरेंद्र कोहली में भरपूर रूप में विद्यमान है। रामकथा और महाभारत कथा के विशाल पौराणिक आलेखन में निखार पाई लेखनी के लिए स्वामी विवेकानंद से जुड़ी यह आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय पुनरुत्थान की ऐतिहासिक जमीन बहुत चमत्कारिक सिद्ध हुई है। अध्यात्म, ईश्वरवाद और तत्त्व-चिंतन की गहराइयों में उतरने में लेखक को आश्चर्यजनक सफलता मिली है। लेखक नरेंद्र ने युगपुरुष नरेंद्र को सही अर्थों में आत्मसात किया है। एक प्रकार से इस कृति में नरेंद्र कोहली के हृदय-परिवर्तन के भी आयाम लक्षित होते हैं। रामकथा के स्रष्टा में जो शुष्क तथा कठोर जनवादी जैसा तर्कशील विचारक सामने आया था, वह इस में स्वामी रामकृष्ण परमहंस की साधना के चित्रण ताप से पिघल गया है। उस नरेंद्र की ही भांति इस नरेंद्र के बदलाव का ही यह परिणाम है कि कृति अध्ययन करने वालों पर प्रभाव छोड़ने वाली हो गई है। इसे मैंने मनोमय सक्रिय आध्यात्मिक सत्संग के रूप में रेखांकित किया है।

कृति के प्रथम भाग में सामान्य नरेंद्र का और दूसरे भाग में परिवर्तित नरेंद्र का चित्रण है। ऐसा लगता है, जान-अनजाने, कृति में नरेंद्र से अधिक चटक प्रकाश ठाकुर अर्थात्

श्रीरामकृष्ण परमहंस के ऊपर पड़ गया है। महापुरुष के रूप में परमपूज्य दोनों पावन चरित्र कितने अद्‌भुत हैं कि एक के बिना दूसरे का सम्यक् अंकन अधूरा होगा। लेखक की उपन्यास कला में कृति ठाकुर की आध्यात्मिक प्रयोगशाला में उन्हीं के हाथों, पूरे मनोयोग से स्वामी विवेकानंद के निर्माण की महागाथा बन गई है।

लेखक ने स्वामी विवेकानंद के युग-प्रर्वतक व्यक्तित्व—बीज के अनुरूप आरंभ में नरेंद्र की बाल लीलाओं तथा जन्मकाल की स्थितियों की भूमिका और बुनावट डाली है। एक भागदौड़ में जब नरेंद्र किसी की पकड़ में नहीं आता है, तो अंत में पुचकारकर बुलाती मां से वह कहता है, ''नहीं चाहिए मुझे प्यार, तुम्हारा प्यार मुझे पकड़ने का बहाना है। (पृ. 15, भाग 1) मात्र तीन वर्ष की आयु वाले नरेंद्र का यह उत्तर बहुत सारगर्भित और भविष्य के लिए सूक्ष्म संकेत है।

नरेंद्र की बाल और किशोर लीलाओं में एक ओर अचिंत्य सत्ता की ओर उन्मुखता और अध्यात्म चिंतन की प्रवृत्ति, दूसरी ओर देशभक्ति, मातृभाषा, मानवता, प्रजारक्षा जैसे उच्च विचार, तीसरी ओर सत्य के लिए विद्रोह, शारीरिक बलवर्धन के आयाम, चरित्रबल और भारतीय आर्षज्ञान और चौथी ओर रूढ़ियों, झूठी परंपराओं, कट्टरता, अज्ञान, जात-पात, छुआछूत आदि पर कठोर प्रहार-प्रवृत्ति का जोरदार उभार होता है। नरेंद्र इन सब के लिए जो संघर्ष करता है, उसे लेखक रचनात्मक चित्रों में और दूर तक चलने वाली वार्ता—बहस की चित्रावलियों में वैविध्य का आकर्षण देकर प्रस्तुत करता है। इसीलिए कृति घटनाप्रधान न होकर विचार-चिंतन, मनःस्थिति चित्रण, वार्ता आख्यान और तर्क बहस प्रधान ऐसी कृति हो गई है, जिसे सामान्य कथारस-प्रेमी कम किंतु परिष्कृत रुचि वाले बुद्धिजीवी अधिक पसंद करेंगे। मनोरंजन के उद्देश्य से कृति नहीं उठाई जा सकेगी। हां, यथार्थवादी नरेंद्र की ईश्वर के प्रति शंकाशीलता, ईश्वर को साक्षात् देख लेने की पागलपन भरी छटपटाहट और इन बातों के संदर्भ में उसके जीवन की असाधारण यथार्थ घटनाओं के रोमांचक आह्लादक चित्रों से स्वयंमेव अनुरंजन होता चले, यह और बात है।

कृति में चित्रांकित नरेंद्र आदि के बहाने ईश्वरवाद पर विक्षिप्त जिज्ञासाओं भरी सार्थक बहस जोरदार रूप में उठ गई है। इस बहस की धार इतनी तेज है कि सारे अनवधान बह जाते हैं और उसमें डूब जाना पाठकों के लिए विवशता होती है। इस अनास्था के युग में सही कोण से रचनात्मक स्तर पर इस मूल्यवान बहस को संपन्न करने में लेखक सफल है।

पूरे तीस अध्यायों की भूमिका के बाद इकतीसवें में नरेंद्र के लिए ठाकुर के प्रथम दर्शन का सुयोग जुड़ता है। इस स्थिति को, मिलन को, लेखक ने चमत्कारिक नहीं बनाया है। मिलन का यह चित्रण आगे भी बराबर चलता जाता है। नरेंद्र ठाकुर से भिन्न, अपने कुछ विरोधी विचार, तर्क और व्यक्तित्व, सबको सुरक्षित रखता है। एक ओर ब्राह्म समाजी ज्ञान-विज्ञान और दर्शन होता है; और दूसरी ओर प्रेम-भक्ति। विचारों की खिंचाई और

टकराहट दूर तक चलती है। नरेंद्र किस प्रकार धीरे-धीरे पिघलता है और पूर्ण समर्पण की मंजिल तक पहुंचता है, इसका चित्रण पाठकों को प्रेम-विह्वल ठाकुर और उनके अज्ञात आकर्षणों में शनैः शनैः रूपांतरित होते, नरेंद्र की मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक कहानी में, भरपूर रूप में मिलता है। लेखक ने बहुत संयमपूर्वक इस सूक्ष्म परिवर्तन को चित्रांकित किया है।

कृति के प्रथम भाग का केंद्र इसका बयालीसवां अध्याय है, जहां भय—कारा तोड़ने का अघोषित अभियान पूर्ण उत्कर्ष पर है। नरेंद्र सहित प्रतिभाशाली युवा छात्रों की एक मंडली परमहंस देव के चतुर्दिक सहज मित्र जैसे लगी—लगा, एक महान उद्देश्य—पूर्ण समर्पण की ओर अग्रसर दीखता है। नरेंद्र की यह जिद कि वह ईश्वर का साक्षात् दर्शन करना चाहता है, ठाकुर के सान्निध्य में आने पर स्वयमेव छिन्नमूल हो गई। ठाकुर को यहां धीर-गंभीर केंद्र के रूप में अंकित कर लेखक ने जिस अंतस्वाहा नवजागरण—आंदोलन का सृजन किया है, उसकी नींव बहुत गहरी है। उसमें साधक नरेंद्र की गरीबी, घरेलू विपत्ति-बाधाएं, उस की निराशा-कुंठा, अवसाद-विषाद और उपेक्षा-अवमानना की खाद पड़ी हुई है। कठिनाइयों के ताप में तपकर अपने चरम निखार पर युगपुरुष के रूप में निकला शलाका पुरुष पाठकों को प्रभावित किए बिना नहीं रहता। अपने स्वरूप-चैतन्य में डूब, संसार-सुख और ईश्वर-प्राप्ति के द्वंद्व से मुक्त होने, पूर्णरूपेण गृह-त्याग करने, रूपांतरित होने और मूर्तिपूजा-विरोधी ब्राह्म समाजी नरेंद्र के काली मंदिर में जाकर भक्ति भाव में डूब जाने के अंतिम चित्रों में शिथिलता टूटी है और गति की तेज धारा में पाठक तृप्ति का अनुभव करता है।

तोड़ो कारा तोड़ो, का दूसरा भाग उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाल के उच्च शिक्षा प्राप्त और चुने हुए चिंतनशील युवा छात्रों की मनोभूमियों में नये तेजस्वी आध्यात्मिक भारत के नवनिर्माण के बीजवपन की कहानी है। इस कहानी का नायकत्व गुरु-शिष्य की एक जोड़ी संपन्न कर रही है। गुरु सहज क्रीड़ा-विनोदप्रिय और शिष्य समर्थ—समर्पित है। दोनों के संकल्प जिस एक बिंदु पर मिलते हैं, वह है, "वन से, वेदांत को घर लाया जा सकता है। संसार के सभी कार्यों में उसका प्रयोग किया जा सकता है। (पृ. 21) एक संपूर्ण युगीन परिवेश और समय के बीच दक्षिणेश्वर के केंद्र से जो आध्यात्मिक बनाम राष्ट्रीय जागरण का महा अभियान चल रहा है, वह मूलभूत रूप में ऐसा है कि जो तनिक भी जागृत है, ऐसे चुने हुए भविष्णु युवा छात्रों की एक टोली, समर्थ गुरु की छत्र-छाया में, पूर्ण परिपक्व होकर नरेंद्र के इर्द-गिर्द उठती चली जाए।

औपन्यासिक कलासिद्धि के लिए जो-जो द्वन्द्व कृति के प्रथम खंड में उभरे हैं, वे दूसरे खंड में आगे बढ़ते दृष्टिगोचर होते हैं। प्रमुख रूप से वे द्वन्द्व हैं, गुरु-शिष्य के बीच वाले सिद्धांतों के द्वन्द्व, अवतारत्व को लेकर द्वन्द्व, नरेंद्र के सांसारिक जीवन और दिव्य जीवन के बीच द्वन्द्व, उसके हाथ से खिसकने के द्वन्द्व तथा गिरीष को लेकर एक द्वन्द्व आदि। ये

द्वन्द्व इतने अधिक दूर तथा देर तक खिंचते हैं कि कहीं-कहीं पाठकों के धैर्य की परीक्षा होने लगती है। परंतु लेखक की अपनी एक विशिष्ट शैली है कि किसी भी तथ्य को सपाट वर्णन में आने न देने के लिए वह जैसे प्रतिज्ञा कर के कलम उठाता है और तब उसे रचनात्मक रूप देने में, सूचना तक को संवाद बनाने में खिंचाई कुछ अधिक ही हो जाती है। यहां तक कि ठाकुर के महाप्रयाण के बाद उपन्यास कुछ निष्प्राण जैसा लगने लगता है। अकेला शिष्य स्वामी विविदिशानंद (नरेंद्र) जनता को अपने स्पर्श से रूपांतरित करने के लिए तपस्या जैसे महान उद्देश्य को लेकर हिमालय की ओर प्रस्थान करता चित्रांकित होता है। उसका यह कथन कि "मैं मानव सेवा को आध्यात्मिक साधना के रूप में स्वीकार करना चाहता हूं।" (पृ. 458) मन को गहराई से छूता है। अपने चुंबकीय स्पर्श से लोगों को रूपांतरित करने की उच्च शक्ति उसके भीतर तपस्या के लिए प्रस्थान से पहले ही आ चुकी दीखती है। दूसरे भाग का उनंचासवां अध्याय इसका प्रमाण है। इस में रूपांतर, सत्य धर्म की बीहड़ता और ईश्वर-निर्भरता आदि के आयाम इतने सशक्त रूप में उभरे हैं कि पाठक सांस रोककर पूरी घटना के बीच से गुजर जाता है।

कृति में गुरु की धार्मिक अनुभूतियों के भीतर से जीवन के व्यावहारिक सिद्धांतों को अन्वेषित करने की एक प्रक्रिया है। प्रच्छन्न रूप से, यह नास्तिकता की युगीन लहरों को रोकने का अभियान है। इन्हीं लहरों में नरेंद्र भी उलझा था, परंतु उसका निमार्ण इस रूप में होता है कि वह गुरु की आध्यात्मिक उपलब्धियों के भीतर से भारत सहित विश्व की समस्याओं का समाधान देखने लगता है। संगीत, घुड़सवारी, कुश्ती, तैराकी, दौड़ और विविध कलाओं में निष्णात तथा चट्टानी देह वाला नौजवान नरेंद्र, हरबर्ट स्पेंसर, जान स्टुअर्ट मिल, हक्सले, शेली, टिंडल, हेमिल्टन, वर्ड्सवर्थ और हीगेल से प्रभावित होने के साथ, प्रचंड नास्तिक, शंका शील और बुद्धिवादी ब्रह्मसमाजी है। दूसरी ओर वह किसी अज्ञात आकर्षण में दक्षिणेवश्वर के आकर्षण-वृत्त में समर्पित है। उसकी सारी बुद्धिवादी आधुनिकता गुरु परमहंस देव के चरणों में ढेर हो जाती है। उस कुल 39 वर्षों के अविवाहित नौजवान के चित्रांकन के साथ-साथ लेखक ने राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, दयानंद, रानाडे और बेसेंट आदि की चिंतन भूमियों को परमहंस देव की भारतीय आध्यात्मिक चिंतन भूमि से संपृक्त कर इस संवेत रूप में प्रस्तुत किया है कि वह व्यापक अर्थों में हिंदुत्व की भूमि हो गई है। इस भूमि पर विज्ञान को धर्म की कसौटी पर कसकर उतारने की एक आकांक्षा भी लक्षित होती है।

इस विशाल कृति का अधिकांश दूसरा भाग ठाकुर की बीमारी और उनके प्रति समर्पित चुने हुए शिष्यों द्वारा विभिन्न स्थानों पर इलाज के लिए उन्हें ले जाने तथा उनकी सेवा-सुश्रूषा में खपने-तपने का चित्रांकन है। बीमारी गले की है और बहुत भयंकर है। वह बढ़ती-घटती है : कभी अच्छी हो जाती है और कभी उमड़ जाती है। ऐसा लगता है कि

यह महापुरुष परमहंस देव की एक लीला है। इस लीला के माध्यम से अपने तपे-तपाए शिष्यों को वे वह शिक्षा व्यावहारिक रूप में प्रदान कर देते हैं, जो ऐकांतिक रूप में उन्हें प्रकाश प्रदान करती है। इसके साथ भीड़ से हटकर गुरु के साथ एकांतवास, सक्रिय सत्संग, पूर्ण सेवा भाव और समर्पण की सिद्धि, कष्ट-सहिष्णुता और तितिक्षा आदि का अनुभव करने के लिए यह लीला-आयोजन होता है। रुग्णावस्था में गुरु की यह समर्पित सेवा भी आध्यात्मिक साधना हो जाती है। जो अद्वैत वेदांत नीरोग रहकर समझाने से रह जाता है, उसे गुरु रोगी बनकर समझा देता है।

एक रईस परिवार के विपदाग्रस्त और दाने-दाने को मोहताज, नौकरी के लिए बिलबिलाते गरीब बालक बीले अथवा नरेंद्र को स्वामी विविदिशानंद (नरेंद्र) के रूप में उठाकर, युगपुरुष के रूप में रखने तथा उसके पूर्ण रूपांतरित होने की घटना में उपन्यास का चरमबिंदु है। यह वास्तव में एक ऐतिहासिक चमत्कार है और सर्वमान्य है। इसे उपन्यास रूप में प्रस्तुत करना, ठाकुर के उन समस्त विचारों, सिद्धांतों, उनके जीवन से संबंधित विविध वृत्तों आदि को विविध स्रोतों से लेकर इस रूप में पिरोना कि वे विवेकानंद की निर्माण भूमि में खाद हो जाए, बहुत कठिन चुनौती था। इस रचनात्मक चुनौती को स्वीकार कर नरेंद्र कोहली ने जिस धैर्य के साथ आस्थावाद, ईश्वरवाद और अध्यात्मवाद का राष्ट्रीय गढ़ तैयार किया है, वह प्रशंसनीय है। □

तोड़ो कारा तोड़ो, भाग-1,2 / लेखक : नरेन्द्र कोहली / प्रकाशक : किताबघर, दरियागंज नई दिल्ली-110002 / मूल्य : 200 रुपए (प्रति भाग)

महानगरीय विसंगतियों से जुड़ी यथार्थवादी कहानियां

राधेश्याम तिवारी

हिन्दी कथा लेखकों में महीप सिंह अपना स्वतंत्र महत्त्व रखते हैं। यह बात दीगर है कि इनकी कहानियों पर अश्लीलता का आरोप है। लेकिन इस अश्लीलता में भी एक यथार्थ दृष्टिकोण है, एक ऐसा दृष्टिकोण जिसे व्यक्त करने के लिए अतिरिक्त साहस का होना अपेक्षित है। महीप सिंह ने साठ के बाद जिस साहस के साथ यथार्थ को अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति दी उसके कड़े प्रतिवाद भी उन्हें झेलने पड़े। लेकिन अन्ततः विद्वानों ने यह स्वीकार किया कि महीप सिंह की कहानियों की तथाकथित अश्लीलता में भी एक पीड़ा है। वह पीड़ा नगरीय जीवन की आम पीड़ा है।

हिन्दी में चर्चित कवि-कथाकार डॉ. रामदरश मिश्र ने अपनी पुस्तक 'हिंदी कहानी : एक अंतरंग पहचान' में महीप सिंह पर लिखा है कि—"सचेतन कहानी आंदोलन के प्रवर्तक महीप सिंह की कहानियों का अपना व्यक्तित्व है और अपनी शक्तियों और सीमाओं के साथ यह व्यक्तित्व उन्हें समकालीन भीड़ से अलगाता है। सचेतन कहानी आंदोलन में जिन बातों को रेखांकित किया गया है उनमें यथार्थवादी दृष्टि की सचेतनता बड़े महत्त्व की है।" महीप सिंह का ताजा कहानी संग्रह 'धूप की उंगलियों के निशान' इनकी उसी सचेतन कथा-दृष्टि की अगली कड़ी है।

इस संग्रह में कुल 15 कहानियां हैं। कहने को मात्र ये 15 हैं, लेकिन इन कहानियों में 14 वर्षों का अन्तराल सिमटा है। मसलन, संग्रह की पहली कहानी 'कितना अजीब' 1979 में लिखी गई थी तो अंतिम कहानी 'लय' 1993 में। हालांकि ऐसा नहीं कि इस बीच लेखक ने मात्र 15 कहानियां ही लिखीं। लेखक के शब्दों में—'मैं समझता हूं कि

इन वर्षों में मैंने जितना लिखा उतना अपनी संपूर्ण लेखन आयु में नहीं लिखा। संचेतना में 'चक्राचक्र' नाम से कितने ही व्यंग्य लिखे, दूरदर्शन के लिए कितने ही सीरियल लिखे, आकाशवाणी के लिए कितनी ही वार्ताएं, रूपक और नाट्यरूपांतर लिखे, किन्तु सचमुच जिसे लिखना कहते हैं, वह अधिक नहीं हुआ।''

फिर भी इतने लंबे अंतराल में कम लिखने का मलाल लेखक को नहीं है, होना भी नहीं चाहिए। क्योंकि महत्त्व इस बात में नहीं है कि किसने कितना लिखा बल्कि इस बात में है कि क्या लिखा और कैसा लिखा। बहुत कम लिखकर भी बड़े लेखक हुए हैं।

संग्रह की पहली कहानी है—'कितना अजीब।' इस कहानी में एक नगरीय मध्यम वर्गीय व्यक्ति की त्रासद एवं विसंगतिपूर्ण स्थिति का चित्रण है। परमानंद के माध्यम से लेखक ने महानगरीय जीवन की जो समस्या उठायी है वह समस्या मध्यमवर्गीय जीवन की समस्या है। ऊपर-ऊपर भरे-पूरे दिखने वाले लोग भी अंदर से कितने खाली हैं इसका अन्दाजा लगभग सभी मध्यमवर्गीय परिवारों को है।

जिन कारणों से महीप सिंह अलग किस्म के कथाकार माने जाते रहे हैं उसकी झलक जाने-अनजाने इस कहानी में भी देखी जा सकती है। मसलन—''बस में बेहिसाब भीड़ थी। न चाहते हुए भी कितने कंधे हमसे रगड़ खा रहे थे। उमस और पसीने की चिपचिपाहट में कुलबुलाते हुए शरीर का लिंग भेद भी जैसे खत्म हो गया था। ऐसा लग रहा था जैसे सभी मात्र शरीर हैं, मटमैली चमड़ी से ढके हुए निर्वस्त्र शरीर।''

संग्रह की दूसरी कहानी 'सहमे हुए' सांप्रदायिकता से संबंधित कहानी है। लेकिन सांप्रदायिकता पर लिखी अन्य कहानियों से बिलकुल भिन्न किस्म की कहानी है। इसमें सिर्फ हिन्दू-मुसलमानों के बीच का ही विवाद नहीं है बल्कि झगड़े के मूल कारणों की भी पड़ताल इस कहानी के माध्यम से करने की कोशिश की गई है।

हाशमी, हरजीत, शर्मा आदि के माध्यम से कथाकार ने मानव मन की उस तह को उकेरा है जिसके चलते आपसी संबंध कटुता में बदल जाते हैं। सभी धर्मों के लोग तब तक तो बड़े प्रेम से एक साथ रहते हैं जब तक उन्हें अपने धर्म के अहं का नशा नहीं होता लेकिन ज्योंही धर्म का नशा छाता है सभी एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं और आपसी संबंध दूरियों में बदल जाते हैं। आज धर्म जैसी पवित्र भावना की आत्मा ही मर चुकी है और इसे मारने वाले कोई और नहीं बल्कि वे धर्माधिकारी ही हैं जो खुद को धार्मिक व्यक्ति बताते हैं। यह झगड़ा सिर्फ औरों से ही नहीं, अपनों से भी करवाने में नहीं चूकते। शिया से सुन्नियों के झगड़े, ऊंच-नीच के झगड़े, अकालियों और निरंकारियों के झगड़े—ये जितने भी झगड़े हैं इनके मूल में कहीं-न-कहीं हिंसक एवं स्वार्थी व्यक्ति का गहरा षड्यंत्र है जो एक-दूसरे को तोड़ कर खुद धर्म के नाम पर मानव समाज को कलंकित करने में जुटा है।

इस कहानी में सांप्रदायिक एवं आपसी झगड़ों की जो चिन्ता उभरकर सामने आई है

उसे लेखक ने व्यक्त करते हुए लिखा है—"झगड़ों के बीच हमारी पृष्ठभूमि में पता नहीं कब, किसने क्या बो दिए थे। उस बोई हुई फसल को हम कब से काट रहे हैं, काटते चले जा रहे हैं, काटते चले जायेंगे। मनुष्य अवश्य लड़ेगा। वह अकेले-अकेले लड़ता है तो लोग उसे झगड़ालू, गुंडा और बदमाश कहते हैं। वह झुंड बनाकर लड़ता है तो देशभक्त, धर्मवीर और गाजी कहलाता है, उसे सम्मानित किया जाता है।"

इस झगड़े के पूरे परिदृश्य में व्यापक और गंभीर रूप से बार-बार सोचने की जरूरत है। जिन सीमाओं के लिए व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व आपस में लड़ते हैं उन्हें एक बार शान्त भाव से यह अवश्य सोचना चाहिए कि क्यों अभी तक लोगों के दिलो-दिमाग से झगड़े की वह प्रवृत्ति नहीं गई है जो हमारे आदिम पुरुषों में थी। सभ्यता के इस युग में भी क्या सचमुच मानव समाज सभ्य हो पाया है?

संग्रह की एक अन्य उल्लेखनीय कहानी है 'धूप की उंगलियों के निशान'। यह एक अति संवेदनशील कहानी है।

एक पुरुष जो लंबे समय तक पति के रूप में एक औरत के साथ रहता है और बाद में दोनों के संबंध-विच्छेद होते हैं। वर्षों बाद जब वह पुरुष औचक ही अपनी उस पूर्व पत्नी को देखता है तो दंग रह जाता है। लेखक लिखता है—"उसने ध्यान से औरत को देखा। धूप में गोरा रंग लाल-काला मिश्रित जैसा लग रहा था। बांहें, ब्लाउज के ऊपर और नीचे से झांकता हुआ शरीर—वह शरीर जिसकी हर नीली नस को वह अपनी हथेलियों पर आज भी महसूस कर सकता है।"

दोनों एक-दूसरे को पहचानते ही एक अजीब मानसिक स्थिति में हो जाते हैं। पुरुष रात्रि अपनी पूर्व पत्नी के यहां ही गुजारता है, लेकिन आश्चर्य यह कि दोनों में भावात्मक संबंध होते हुए भी शरीर के स्तर पर एक-दूसरे से दूर हैं।

इस कहानी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें नारी चरित्र जो उभरकर सामने आया है वह लाजवाब है। पुरुष पात्र अपेक्षाकृत कमजोर लगा। एक पत्नी द्वारा अपने पति को यह कहना कि—"कोर्ट-कचहरी के चक्कर काटने में मेरी रुचि नहीं है। मुझे तुमसे कुछ नहीं चाहिए। अपनी नौकरी में अपना और अजीत का गुजारा अच्छी तरह चला लूंगी, मेरी तरफ से तुम आजाद हो;" कम साहस और आत्मविश्वास की बात नहीं है।

लेकिन इससे जुड़ा जो सबसे बड़ा प्रश्न है वह यह कि आत्मविश्वास और साहस आत्मिक ही नहीं है। इसके पीछे एक कारण आर्थिक है। जब तक औरतें आर्थिक रूप से स्वावलम्बी नहीं होंगी, उनका सारा साहस धरा का धरा रह जायेगा। नारी स्वावलंबन की जब बात होती है तो उसके मूल में आर्थिक स्वावलम्बन ही है। आज भी भारत में आर्थिक रूप से औरतें कितनी स्वावलम्बी हो पायी हैं।

महीप सिंह की कहानियों के विषय में कुछ आलोचकों का मत है कि उनकी कहानियों

में मांसलता झलकती है। लेकिन अगर गहराई से देखें तो यह कहानी महीप सिंह के कथा-सौंदर्य का एक नया अर्थ भी खोलती है। इस कहानी में आसक्ति में भी निस्पृहता है। शरीर के स्तर पर दूरियां रखने वाले पूर्व पति-पत्नी भी जब मिलते हैं तो कहीं कोई असहजता नजर नहीं आती। दोनों एक-दूसरे का उतना ही सम्मान करते हैं, फिर भी अपने पूर्व संबंधों में वापसी की इच्छा कोई भी व्यक्त नहीं करता।

संग्रह की सभी कहानियां कमोवेश पाठकों पर अन्ततः अपना प्रभाव छोड़ ही जाती हैं। महीप सिंह की कहानियों पर डॉ. रामदरश मिश्र की यह टिप्पणी सत्यता के काफी करीब है कि—'साधारण कहानियां ऊपर-ऊपर दीखने वाली सपाटता के भीतर कुछ ऐसे व्यंजक क्षण या मार्मिक संकेत छिपाये रखती हैं कि सारी कथा इनके स्पर्श से एक विशिष्ट आयाम पर जाती हैं।''

सारी कहानियां महानगरीय परिवेश की त्रासदपूर्ण स्थिति को व्यक्त करती हैं। □

धूप की उंगलियों के निशान (कहानी-संग्रह)/लेखक: महीप सिंह/प्रकाशक: अभिव्यंजना, बी-70/72, डी.एस.आई.डी.सी. कॉम्पलेक्स, लारेंस रोड, दिल्ली-110035/मूल्य 125/-

बाल-साहित्य को एक अच्छा उपहार

डॉ. कमलप्रकाश अग्रवाल

बाल-साहित्य बहुत थोड़ी मात्रा में प्रचार-प्रसार में है। विदेशों की तुलना में भारत के बच्चे बहुत पीछे हैं। श्री जयप्रकाश भारती अपने साहित्य के माध्यम से बच्चों को इक्कीसवीं सदी में ले जाना चाहते हैं, उनकी नवीनतम कृति 'बाल-साहित्य : इक्कीसवीं सदी में' बालकों को अच्छा उपहार है। भारती जी बाल-साहित्य विशेषज्ञ तो हैं ही, परंतु प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से सिद्ध किया है कि 'इक्कीसवीं सदी बालक की ही होगी'। बालक में ईश्वर मानकर भारती जी ने उनके प्रति लेखन में स्वयं को समर्पित कर दिया है।

प्रस्तुत पुस्तक उन्होंने बच्चों की मानसिकता तथा उनके गुणों को अनुभूति द्वारा अपने जीवन की वास्तविक कसौटी पर उतारकर ही लिखा है—"बालक की मुस्कान में भगवान मुस्कराता है, बालक जन्म लेता है तो रोने या हंसने के बाद तुतलाने, किलकारी व क्रीड़ा करने लगता है। मानव जिस स्वर्णिम भविष्य के सपने लेता है उसका मूल स्रोत बालक ही है।"

प्रथम अध्याय में पुराण संदर्भ देकर अजर-अमर मार्कण्डेय मुनि का शिशु स्वरूप, हृषीकेश भगवान श्रीकृष्ण का वार्तालाप एवं बालक का शरीर जागृत देवताओं का मंदिर है, गीता व उपनिषद के दर्शन से सिद्ध करना। भगवान कृष्ण के बाल रूप में माता यशोदा को अपने मुख में समस्त ब्रह्मांड जैसे नदी, पर्वत, समुद्र, ग्रह-नक्षत्र आदि का दर्शन कराना है। जिस प्रकार आलू के पौधे पर टमाटर नहीं हो सकता, उसी प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी वंश के गुणों का प्रभाव भी रहता है। महर्षि व्यास पुराणों की रचना करते-करते अशांत रहने लगे, तब देवर्षि नारद ने 'बालकृष्ण के गुणानुवाद गाने को कहा तो महर्षि व्यास ने श्री मद्भागवत का निर्माण किया जिससे उनकी मानसिक अशांति जाती रही, उस समय से आज

तक करोड़ों नर-नारियों की मानसिक अशांति को नष्ट करने का साधन भागवत ग्रंथ बना हुआ है। उसी प्रकार जब ईसा के पास आने वाले बच्चों को रोका गया तो उन्होंने कहा, "बच्चों को रोको मत, स्वर्ग का राज्य इन्हीं का है। जब सबका हृदय बच्चों की तरह कोमल हो जायेगा तब ही स्वर्ग में जाने दिया जाएगा।"

दूसरे अध्याय में ईरान के विद्वान 'बुर्जुए' किस प्रकार संजीवनी बूटी खोजने भारत आए, परंतु उन्होंने पंचतंत्र नामक दिव्य ग्रंथ की उपलब्धि को ही सच्चा अमृतपान बताया। पंचतंत्र की कथाओं का विश्व बाल-साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। पंचतंत्र नीति तत्त्व के अतिरिक्त, लोक कथा, पशु कथा, कल्पित कथा, अद्भुत कथाओं का समन्वय है जिसका मूल उद्‌गम वेद, उपनिषद, सूत्र, काव्य, ब्राह्मण ग्रंथों से है। पुराण की कथाओं का उद्देश्य सामान्य जन को शिक्षित करना था लेकिन शिवजी द्वारा पार्वती को सुनाया गया 'कथा सरित्सागर' का अंश पंचतंत्र, हितोपदेश, सिंहासन बत्तीसी, बेताल पच्चीसी आज भी प्राचीन काल के बेजोड़ बाल-साहित्य हैं जिनके पढ़ने से बच्चों की विभिन्न रुचियों का विकास हो सकता है।

तीसरे अध्याय में बच्चों को सम्मोहित करने वाली कल्पनाएं, राजकुमारी, शैतान, जादू से बनी सुखांत परी कथाएं हैं जिनका उद्‌गम भारत में पंचतंत्र-कथा सरित्सागर के माध्यम से विदेशों से भी बहुत पहले भारत में हो चुका था। स्वयं भारती जी ने 'भारत की प्रतिनिधि लोककथाएं' शीर्षक से 96 कथाओं का बड़ा संकलन तैयार किया था।

चौथे अध्याय में देशभक्ति जागृत करने वाले बाल साहित्यकारों का वर्णन है, जिसमें भारतेंदु हरिश्चंद्र के 'अंधेर नगरी चौपट राजा' का वर्तमान प्रशासन पर व्यंगात्मक कथा द्वारा चित्रण है, वहीं पर लीक छोड़कर चलने वाले अमीर खुसरो का विनोद और मनोरंजन आज भी हिंदी साहित्य में कीर्तिमान स्थापित कर रहा है, उनकी बाल पहेलियां आज भी अनूठी हैं जैसे—

बीसों का सिर काट लिया।
ना मारा ना खून किया। (नाखून)

पांचवें अध्याय में संस्मरण हैं उन लोगों के जिन्होंने श्रेष्ठ बाल-साहित्य की रचना में अपने को विलीन कर दिया। वास्तव में भारती जी की यह उक्ति 'चंदन की लेखनी और फूलों का रस' सार्थक है। 'बालक को मन का बंधन पीड़ादायक है' बच्चों के लिए लिखना सबसे कठिन कार्य है। बाल पत्रिका 'नंदन' के माध्यम से रोचक, मनोरंजक, प्रेरणादायी विचार लाखों पाठकों तक भारती जी ने पहुंचाए। बचपन में किस तरह उज्ज्वल भविष्य की नींव का निर्माण होता है, इसकी झांकी इस आलेख में दिखाई देती है।

अगले लेख में बाल पुस्तकों के प्रकाशन संबंधी समस्याएं हैं। कभी प्रकाशन मिशनरी व्यवसाय था, परंतु आज शुद्ध आर्थिक व्यवसाय बन गया है। वे सरल भाषा और रोचक शैली का भी ध्यान नहीं रखते। तथ्यात्मक भूलें भी बहुत रहती हैं।

पुस्तक की महत्त्वपूर्ण लेखमाला बाल-साहित्य के सप्तर्षि की कल्पना उसी भांति की गयी है जिस प्रकार उत्तर दिशा के ध्रुव तारे के पास लोक-कल्याण और युगदृष्टा ऋषि थे। साहित्य के ऋषि पं. रामनरेश त्रिपाठी, रामवृक्ष बेनीपुरी, स्वर्ण सहोदर, सुभद्राकुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी, व्यथित हृदय और अक्षयकुमार जैन—इन सबने अपने शैशव से लेकर साहित्यिकी तक का चित्रण अपने मनोभाव तथा अपने संस्मरणों का चित्रण किया है। वर्णनों में कभी लंबे पैराग्राफ नहीं देने चाहिएं, पुस्तक का आकार, चित्र, शैली, रचना का उद्देश्य सार्थक होना चाहिए। रंगीन चित्रों का भी समावेश हो। पुस्तक कभी चित्रों से खाली न हो।

बाल पत्रकारिता एक अविराम यात्रा है। बालक कभी बेकार नहीं रह सकता। उसके लिए आप काम की व्यवस्था नहीं करेंगे तो बालक स्वयं काम खोज लेगा। कुछ तोड़-फोड़ कर देगा, कुछ सामान इधर-उधर फैला देगा। आसपास की दुनिया को वह जानना चाहता है, इसलिए कभी कूदता है, कभी जीने पर चढ़ता है। बालक की क्रियाओं को रचनात्मक दिशा दें, यह बहुत आवश्यक है। उमंग, उल्लास, आशा, विश्वास के अंकुर, बाल-साहित्य ही रोपता है। स्वस्थ व सबल नागरिक बनाने में पुस्तकें 'प्रकाश' हैं।

स्वाधीन भारत में बाल पत्रों का प्रारंभ इलाहाबाद से 1948 में 'लल्ला' से हुआ, दिल्ली से बालभारती, मद्रास से 'चंदामामा', विज्ञान प्रगति, पराग, इंद्रजाल कॉमिक्स, चम्पक, मधु मुस्कान, सुमन सौरभ, बाल हंस जैसी पत्रिकाओं का उदय हुआ जिसने बालकों को दिशा दी। भारती जी कहते हैं आज जो भी हम कर रहे हैं, वह बच्चों के उज्ज्वल भविष्य के लिए ही है। सब कुछ इन्हीं को सौंप कर विदा लेंगे। बच्चों के प्रमुख लेखक व उनकी सार्थक रचनाओं का दर्शन के बाद बाल-साहित्य का प्रारूप क्या हो—जैसे ग्रह-नक्षत्र, विज्ञान, खेल, फूल, पक्षी, रीति-रिवाज, प्रकृति, देश प्रेम, आविष्कार, कम्प्यूटर, भूगोल, राकेट, पर्यटन, पुराण कथाएं, महाभारत आदि साहित्य हो। पुस्तकालय गली-गली, मोहल्ले में हो, तथा संभव हो तो माता-पिता बच्चों को घर में पुस्तकालय बना दें।

बाल शब्दकोश की कमी खलती है। पुस्तक में केवल एक सचित्र बालकोश का वर्णन है। बच्चे अपने खाली समय का उपयोग कैसे करें? विदेशों में 'केन्या' ने परिषद बनाई जिसका लक्ष्य अफ्रीकी बच्चों में विज्ञान की रुचि जगाना है। जब बच्चे विज्ञान में रुचि लेंगे, पिछड़ापन दूर होगा।

बाल-साहित्य में विज्ञान कथाओं का भी समावेश होना चाहिए। इक्कीसवीं सदी में एक कथा सिद्ध नागार्जुन की दी है जो पैरों में लेप चढ़ाकर उड़ना सीख रहे थे। दूसरी कथा त्रिपुर राक्षस के तीनों पुरों पर शिवजी द्वारा अंतरिक्ष में घूम रहे तीनों पुरों (बस्ती) पर एक

बाण में प्रहार कर त्रिपुर वध का वर्णन किया है।

बच्चों की भावनात्मक कल्पना को दबाओ मत, बालकों को किताबें दो ताकि उनके पंख लग सकें अर्थात् गति मिल सके। 'पढ़ो और आगे बढ़ो' के सिद्धांत पालन कर सकें।

वर्तमान इलेक्ट्रानिक मीडिया का यह प्रचार भ्रामक है—बच्चे पुस्तक पढ़ना ही नहीं चाहते बल्कि अच्छे साहित्य व बाल सुलभ साहित्य की कमी को मुंह चिढ़ाता है। बच्चों की आंखों पर चश्मा व बढ़ती हुई हिंसा संबंधित भी एक कहानी है। इलेक्ट्रानिक मीडिया एक चुनौती के रूप में उभरा है। उससे वर्तमान साहित्य को कोई खतरा नहीं है। बच्चों की बाल पत्रिकाओं की बिक्री हमें यह दर्शाती है कि पत्रिकाओं की बिक्री बढ़ी है।

कुल मिलाकर इक्कीसवीं सदी में श्री जयप्रकाश भारती ने विभिन्न भाषा तथा ग्रंथों का शोधात्मक तथा रोचक परिचय देते हुए यह ग्रंथ लिखा है जिसे पढ़ने पर मंहगी पुस्तक होते हुए भी सार्थकता नजर आती है। □

बाल साहित्य : इक्कीसवीं सदी में / लेखक : जयप्रकाश भारती, मूल्य 125/- प्रकाशक : अभिरुचि प्रकाशन, 3/114, कर्ण गली, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-110032

एक सक्रिय अवधि

लालित्य ललित

साहित्य मनुष्य को पूरी तरह से चैतन्य तो बनाता ही है, साथ ही साथ उसे एक विचारक की समर्थ दृष्टि भी प्रदान करता है। गतिविधियां भी एक मायने में मानवीय चिंतन को पैना करती हैं ताकि मनुष्य अपने कर्तव्य से डिगे नहीं बल्कि पूरी मजबूती से अपने दायित्व का निर्वाह करता रहे।

साहित्य अकादमी ने अप्रैल के पहले सप्ताह सुप्रसिद्ध समालोचक प्रोफेसर बी. राजन का व्याख्यान 'हेगेल का भारत' का आयोजन किया जिसमें महत्त्वपूर्ण बुद्धिजीवियों ने हिस्सा लिया।

राजधानी के त्रिवेणी सभागार में वरिष्ठ पत्रकार व महत्त्वपूर्ण लेखक श्री राजेंद्र माथुर की पांचवीं पुण्यतिथि पर आयोजित एक कार्यक्रम में कथाकार मनोहरश्याम जोशी ने कहा : राजेंद्र माथुर पत्रकार थे, लेकिन उनका मन साहित्यकार था। इस अवसर पर अनेक पत्रकारों ने भी अपने विचार व्यक्त किए।

प्रख्यात रंगकर्मी सफदर हाशमी की स्मृति में दो दिवसीय फिल्म समारोह का आयोजन सफदर हाशमी मेमोरियल ट्रस्ट ने किया। इस अवसर पर चुनिंदा फिल्मों के अतिरिक्त, सांप्रदायिकता के विरोध में एक पोस्टर भी जारी किया गया।

राष्ट्रपति भवन में आयोजित एक सादे समारोह में डॉ. प्रेमचंद जैन ने 'बीहड़ पथ के यात्री' की पहली प्रति महामहिम राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा को भेंट की। इस अवसर पर पुस्तक के संपादक युवा उपन्यासकार श्री वीरेंद्र जैन भी उपस्थित थे।

एक अन्य समारोह में जाने-माने नाटककार श्री चिरंजीत ने दो पुस्तकें 'तुम्हारी नगरी में' और 'जिंदादिली के दो रंग' राष्ट्रपति भवन में महामहिम को दीं।

हिंदी के वयोवृद्ध चर्चित स्तंभकार व व्यंग्यकार श्री गोपालप्रसाद व्यास ने अपनी नवीनतम कृति 'हास्य सागर' राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा को भेंट की।

हिंदी के प्रसिद्ध व्यंग्यकार शरद जोशी की स्मृति में आयोजित एक कार्यक्रम में उनकी पुत्री नेहा शरद जोशी ने कहा : शरद जी का लिखा जितना सामने आ पाया है उससे दुगुना साहित्य अभी अप्रकाशित है जो शीघ्र प्रकाशित होगा। सुश्री नेहा जोशी ने यह भी कहा कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लिए शरद जी ने अनेक योजनाएं बनाई थीं। उनके सपनों को साकार करना हम सब की जिम्मेदारी है।

भारतीय अनुवाद परिषद द्वारा 'अनुवादक महोत्सव' पर आधारित एक कार्यक्रम बंग भवन, हेली रोड के सभागार में किया गया। इस कार्यक्रम में सभी आयु वर्ग के अनुवादकों को परस्पर मिलने-जुलने और विचारों का आदान-प्रदान करने का दुर्लभ मौका भी मिला। इस वर्ष यह समारोह प्रसिद्ध अनुवादक डॉ. प्रभाकर माचवे की स्मृति में किया गया। समारोह की अध्यक्षता इंदिरा गांधी कला केंद्र के संयोजक सतकोड़ मुखोपाध्याय ने की।

पहाड़ी भाषा लिपि मिशन की वर्षगांठ के अवसर पर आयोजित एक कार्यक्रम एवाने गालिब हॉल में संपन्न हुआ। इस अवसर पर गढ़वाली गीतकार चंदर पंवार को पुरस्कृत किया गया।

भोगीलाल लहरचंद इंस्टीट्यूट ऑफ इंडोलोजी द्वारा प्राकृत भाषा एवं साहित्य के आठवें ग्रीष्मकालीन अधिवेशन समारोह का उद्घाटन करते हुए राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति श्री रंगनाथ मिश्र ने कहा : भारतीय इतिहास एवं संस्कृति को समझने के लिए प्राकृत भाषा व साहित्य का अध्ययन जरूरी है। उन्होंने यह भी कहा कि आधुनिक युग में लोग तरह-तरह के दबावों में जी रहे हैं। इन तनावों को प्राकृत भाषा के अध्ययन व उसकी मदद से कुछ कम किया जा सकता है। इस अवसर पर अनेक गण्यमान्य व्यक्ति मौजूद थे।

अमर भारती संस्थान ने एक साहित्यिक समारोह गांधी शांति प्रतिष्ठान में आयोजित किया। इस अवसर पर 'भाव लहरिया' के बांग्ला रूपांतर 'अभिव्यक्ति' (अनुवादिका सुश्री लेखा चंदा संध्या) का लोकार्पण प्रसिद्ध पत्रकार श्री माधवकांत मिश्र ने किया। इस कार्यक्रम में हिंदी-अहिंदी-भाषी लेखकों को सम्मानित भी किया गया।

प्रदर्शनी

यूं तो गरमी का आलम अप्रैल माह से शुरू हो जाता है। इसके साथ ही गतिविधियां भी तेज हो जाती हैं। रंग बिखेरते हैं जादू कल्पना का, संयम का और एक अलग दुनिया का। रंग करते हैं बात आपस में। चित्रकार इसी बात को परिष्कृत करता है। तैयार चित्र

अभिव्यक्त करता है रंग की कहानी आहिस्ता-आहिस्ता। ऐसा ही मध्यम स्वर कलादीर्घाओं में देखने को मिला। कलादीर्घाएं चित्रों से लैस रहीं चाहे इच्छुक अवलोकनहारी भले ही कम रहे हों। पर यह तय था कि निर्धारित प्रदर्शनी अपने समय पर प्रदर्शित हुईं और कला-प्रेमियों के द्वारा पसंद भी की गईं।

गैलरी रोम्यां रोलां में धीरज चौधरी के रेखांकन चित्रों पर आधारित एक प्रदर्शनी लगी। इसी तरह विदेशी चित्रकार कनाडा निवासी श्री माइकल मोरिस की प्रदर्शनी हौज खास विलेज स्थित आर्ट कंसल्ट में आयोजित हुई।

आर्ट हेरिटेज गैलरी में सुश्री अनिता चक्रवर्ती के ग्राफिक्स पर आधारित एक प्रदर्शनी प्रदर्शित हुई। इसी दीर्घा में जी. रघु के काष्ठ शिल्प भी प्रदर्शित किए गए। एक बात साफ दिखाई देती है, कलाकार की तरह कला-प्रेमी की पसंद का कैनवास भी काफी बड़ा होता है।

सुश्री अनु नायक की तैलीय चित्र प्रदर्शनी गैलरी अरविंदो में प्रदर्शित की गई।

आल इंडिया फाइन आर्ट्स एंड क्राफ्ट्स सोसाइटी ने राष्ट्रीय रेखाचित्रों की एक सामूहिक प्रदर्शनी का आयोजन किया। इस प्रदर्शनी में संजय, सुशांत कुमार दास, दीपिका हाजरा, दिनेश कुमार, वीर मुंशी, दीपक राय सोनार के साथ अमिताभ श्रीवास्तव प्रमुख थे। सभी चित्रकारों के चित्रों में रंगों का वैविध्य देखने को मिला। प्रदर्शनी कला-प्रेमियों द्वारा काफी पसंद की गई।

इंडिया इंटरनेशनल सेंटर कला दीर्घा में मशहूर फिल्म अभिनेता सज्जन के भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में वर्णित 49 भावों की भंगिमाओं को अपने कैमरे में कैद करने वाले छायाकार श्री ओ.पी. शर्मा के छायाचित्रों की प्रदर्शनी आयोजित हुई। प्रदर्शनी का उद्घाटन प्रख्यात समाजशास्त्री श्रीमती कपिला वात्स्यायन ने किया। इस प्रदर्शनी में कुल 63 श्वेत- श्याम चित्र प्रदर्शित किए गए।

त्रिवेणी सभागार में मुंबई निवासी सुनील वाडेकर के जलरंगों की प्रदर्शनी आयोजित हुई। सुनील को प्रकृति से लगाव है। प्राकृतिक छटा इनके चित्रों की विशेषता रही है। सुनील के चित्र कला-प्रेमियों को बांधने में कामयाब रहे।

ललित कला अकादेमी द्वारा आयोजित मूक बधिर प्रभा शाह की एकल प्रदर्शनी 'मरुस्थल और झीलें' शीर्षक से रवींद्र भवन में लगी। प्रभा शाह ने चित्रकारी का हुनर बचपन में ही सीख लिया था। यही कारण था पंद्रह वर्ष की आयु में लंदन की एक कल्याणकारी संस्था की ओर से आयोजित चित्रकला प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया था। प्रभा की सार्वजनिक रूप में पहली एकल प्रदर्शनी 1968 में लगी। प्रभा अपने चित्रों में हरा, भूरा, आसमानी, संतरी रंगों का प्रयोग करती हैं। इनके चित्रों में एक ओर शांति है तो दूसरी ओर स्पंदन का एहसास भी।

त्रिवेणी कला संगम में नैना कनोडिया के चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित हुई। नैना के

चित्रों में रोजमर्रा की जिंदगी के विभिन्न पहलू साफ नजर आते हैं। साधारण जिंदगी को छूते ये चित्र अनायास ही मध्यमवर्गीय परिवार के चित्र दिखाई देते हैं।

रवींद्र भवन में आयोजित एक अनोखी प्रदर्शनी आयोजित हुई। कलाकार थे तीन। रंगों का चयन अद्भुत। आपसी मेल-जोल को प्रोत्साहित करती प्रदर्शनी को काफी लोगों ने पसंद किया।

राष्ट्रीय शिल्प संग्रहालय में आयोजित प्रतिवर्ष की तरह इस वर्ष भी लगभग पचास कलाकारों ने अपनी प्रतिभा का कौशल प्रस्तुत किया। इस प्रदर्शनी में आए अधिकतर कलाकार काफी उत्साहित दिखाई जान पड़े। धातु से निर्मित वस्तुओं के अलावा कश्मीर के खूबसूरत गुलदस्ते भी सभी आमंत्रित आगुंतकों का मन मोह लेने में कामयाब रहे।

विलेज गैलरी में आयोजित चित्र प्रदर्शनी में अलका रघुवंशी के चित्र दर्शकों ने पसंद किए। इन चित्रों में महिलाओं के व्यस्त जीवन को बारीकी से प्रस्तुत किया गया था।

नृत्य/संगीत

स्वर्गीय गुरु श्री नाथ राऊत की पुण्यतिथि पर नेहरू इंस्टीट्यूट ओडिसी रिसर्च सेंटर ने 'श्रृद्धांजलि' समारोह में प्रस्तुति दी सुश्री बनी राय ने। सुश्री बनी ने गुरु राऊत की मृत्यु के बाद नृत्य शिक्षा गुरु दुर्गाचरण रणबीर से प्राप्त की। इसी सभागार में शर्मिष्ठा मुखर्जी ने भी कथक की एक प्रस्तुति दी।

इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में आयोजित कथकली के लिए प्रसिद्ध इंटरनेशनल सेंटर द्वारा केरल प्रदेश से संबंधित प्रस्तुति कलाकारों द्वारा प्रस्तुत की गई।

कमानी सभागार में आयोजित चमन लाल मेमोरियल सोसाइटी द्वारा 'आलोक' शीर्षक से एक नृत्य की प्रस्तुति की गई।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद की विशेष प्रस्तुति में ओडिसी नृत्यांगना सुश्री ज्योति श्रीवास्तव ने अपनी प्रशंसनीय प्रस्तुति दी। सुश्री ज्योति स्वर्गीय गुरु श्री नाथ राउत की वरिष्ठ छात्राओं में से एक रही है। सुश्री श्रीवास्तव ने कला को समर्पित अपने जीवन के लगभग सत्रह वर्ष दिए हैं। दर्शकों द्वारा उनकी प्रस्तुति सराही गई।

ऋग्वेद पर आधारित 'दिव्य अर्चना' के तहत मीनू ठाकुर व अलकनंदा दासगुप्ता ने अपनी नृत्य प्रस्तुतियां दीं। इस नृत्य को निर्देशित किया डॉ. नीलम वर्मा ने व कोरियोग्राफी की प्रदीप शंकर ने। संगीत को लयबद्ध किया अशोक भट्टाचार्य ने। वरिष्ठ संगीत-मर्मज्ञों से प्रशिक्षित नृत्यांगनाओं की प्रस्तुति संगीत-प्रेमियों द्वारा पसंद की गई।

त्रिवेणी सभागार में रागरंजिनी द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम में संगीतमय प्रस्तुति दी बेला मुखर्जी, पारुल बनर्जी व सुनील मुखर्जी ने। संगीत-प्रेमियों का उत्साह इस शाम में देखते बनता था।

भारत नाट्य निकेतन की एक प्रस्तुति में बांसुरी वादन द्वारा जी. रघुरमन ने कार्यक्रम संध्या में एक अनोखा समां बांध दिया।

इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में आयोजित पुर्तगाल समारोह के आयोजन उपलक्ष्य पर लंग हियो मिंग ने पियानो पर एक मनमोहक प्रस्तुति दी। यह कार्यक्रम पुर्तगाल दूतावास व दिल्ली म्यूजिक सोसाइटी की एक विशेष प्रस्तुति थी।

एल.टी.जी. सभागार में तन्वा क्रियेटिव समूह द्वारा तीन कलाकारों—किशोर शर्मा, किशन कुमार व नरेश कुमार ने नृत्य विषयक अपनी प्रस्तुति दी।

इंडिया इंटरनेशल सेंटर में आयोजित समारोह में गीता चंद्रन ने भरत नाट्य पर आधारित नृत्य को समर्पित एक शाम प्रस्तुत की।

इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में आयोजित एक अन्य कार्यक्रम में शांतनु चक्रवर्ती ने भारतनाट्यम शैली में दर्शकों को शास्त्रीय नृत्य की गरिमा से अवगत कराया। इस कार्यक्रम में स्वयं नृत्यांगना शोभना नारायण सहित उनकी शिष्याओं ने अपने नृत्य की अनेक प्रस्तुतियां दीं।

सत्रह वर्षों से शोषित बच्चों के उत्थान हेतु सक्रिय स्वयंसेवी संगठन 'दीपालय' ने एयरफोर्स ऑडिटोरियम सुब्रतो पार्क 'कला दर्पण-96' शीर्षक से एक समारोह का आयोजन किया। समारोह की प्रमुख आकर्षण रही प्रख्यात नृत्यांगना सोनल मानसिंह, जिन्होंने 'कथा कालुरी बेनटा' पर आधारित भावप्रवण नृत्य कर समां बांध दिया।

इसी तरह एक अन्य कार्यक्रम कलांगन की ओर से इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में आयोजित किया गया, जिसमें तीन दशकों से प्रख्यात मुंबई बहनों श्रीमती सी. सरोजा व श्रीमती सी. ललिता ने संगीत गायन की युगल प्रस्तुति दी। इन के साथ वायलिन पर गायत्री, मृदंगम पर तंजाबूर सुब्रह्मण्यम तथा घटम पर गोविंदराजन ने बड़ी निपुणता से सहयोग दिया। कार्यक्रम का मुख्य आकर्षण युगल जोड़ी का राग षण्सुखप्रिया का आलाप तानम और पल्लवी प्रमुख रहे।

रंगमंच

अभिनय जीवन का आईना है। नाटक से परे का जीवन मंच पर हम हूबहू पाते हैं। कई बार नाटक इतना सशक्त बन जाता है कि हम अपनी भावनाओं को मंचित नाटक में तलाशने लगते हैं। तमाम गतिविधियों और राजधानी की हलचल के स्थिर या अस्थिर भाव के बावजूद रंगमंच ने इस दौरान अपनी अनेक प्रस्तुतियां दीं, जिनमें प्रमुख रहीं :

मुंबई के नाट्य दल सुरनई ने राजधानी दिल्ली के श्रीराम सभागार में अपना बहुचर्चित नाटक 'जमीलाबाई कलाली' मंचित किया। पेरू के नाटककार मारियो बर्गेस लोसा की रचना ला चुंगा पर आधारित इस रचना का राजस्थानीय रूपांतरण स्वयं प्रसिद्ध गायिका इला अरुण

ने किया है। दर्शकों की भारी संख्या ने इस नाटक में विशेष रुचि ली और इसे पसंद किया।

प्रसिद्ध कथाकार धर्मवीर भारती की कहानी 'बंद गली का आखिरी मकान' का नाट्य रूपांतरण राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के नवनिर्मित सभागार में मंचित किया गया। नाटक की परिकल्पना की देवेंद्र राज अंकुर ने। विभिन्न पात्रों की भूमिका निभाने का श्रेय साथी कलाकारों को जाता है जिनमें प्रमुख थे चितरंजन गिरि व मंदाकिनी गोस्वामी। नाटक को दर्शकों ने सराहा व पसंद किया।

इंदु आर्ट थियेटर एंड फिल्म सोसाइटी की ओर से आयोजित नाटक 'अब क्या होगा' का मंचन एल.टी.जी. सभागार में किया गया।

राजधानी दिल्ली में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल की ओर से आयोजित ग्रीष्मकालीन नाट्योत्सव की शुरुआत हुई। इस नाट्योत्सव में 'थैंक्यू बाबा लोचन दास', 'मुआवजे', 'बंद गली का आखिरी मकान', 'अग्नि और बर्खा', 'रास्ते', 'परिणति', 'आइंस्टाइन' आदि प्रस्तुत किए गए।

एक अन्य प्रस्तुति में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के द्वितीय वर्ष के छात्रों ने जयशंकर प्रसाद के चर्चित नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' की प्रस्तुति दी। नाटक का निर्देशन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के एसोसिएट प्रोफेसर तथा चर्चित निर्देशक रोबिन दास ने किया।

श्रीराम सेंटर में रंगभूमि के तत्त्वावधान में कई दिन तक चलने वाले नाटक 'हाय हैंडसम' को पसंद किया गया। इस नाटक की खास बात यह है कि इसकी कथावस्तु आधुनिकता से प्रभावित मध्यमवर्गीय महिलाओं पर आधारित है, और एक परिवार की बुनियादी समस्याओं को हास्य-व्यंग्य के माध्यम से उठाने का प्रयास किया गया है। नाटक में जे.पी. सिंह तथा रतन वार्ष्णेय के साथ-साथ निर्देशिका चित्रा सिंह ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

श्रीराम सेंटर में नाटक नागमंडला का मंचन किया गया। पति-पत्नी के मध्य तनाव को सशक्तता से दर्शाता नाटक दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करता है। गिरीश कुमार द्वारा लिखित नाटक की सहानुभूति महिलाओं पर केंद्रित है। उनका मानना है स्त्री चाहे अनपढ़ हो या शिक्षित—सभी का शोषण समान रूप से जारी रहता है।

कलाकारों ने बखूबी अपने अभिनय से नाटक को गति प्रदान करने में काफी मदद की है। नाटक में उद्वेलित महिला की महत्वपूर्ण भूमिका मनीषा महाजन ने निभायी है।

पुरस्कृत/सम्मानित

हिंदी के वरिष्ठ निबंधकार प्रो. विजयेंद्र स्नातक को हिंदी जगत में उनकी उल्लेखनीय सेवाओं के लिए वर्ष 1994-95 का शलाका सम्मान प्रदान किया जायेगा। इस पुरस्कार के

अंतर्गत इक्यावन हजार रुपये नकद, शाल, सम्मान-पत्र तथा प्रतीक चिह्न दिया जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कार्टूनिस्ट आर.के. लक्ष्मण को इस वर्ष के शरद जोशी पुरस्कार से सम्मानित किया जायेगा। इस सम्मान के तहत इक्यावन हजार रुपये की राशि दी जाती है। यह पुरस्कार हरियाणा सरकार की ओर से दिया जाता है।

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के विश्वस्तर पर प्रचार-प्रसार के लिए फादर वालेस को आचार्य काका कालेलकर विश्व समन्वय पुरस्कार से सम्मानित किया गया। □

भारतीय अनुवाद परिषद का अनुवादक महोत्सव

डॉ. गार्गी गुप्त

तिब्बती परंपरा और पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार भगवान बुद्ध ने महापरिनिर्वाण के लगभग एक शताब्दी बाद तिब्बत में लोगों का आगमन हुआ। उसके बाद लगभग छह सदियों तक तिब्बत छोटे-छोटे अनेक राज्यों में विभाजित रहा, जिन पर क्षेत्रीय राजाओं का आधिपत्य था। तिब्बत का अभिलिखित इतिहास उसके पहले शासक नारित सैंग पो, जिसका समय 127 ईसा पूर्व था, से प्रारंभ होता है। माना जाता है कि यह राजा भारत से तिब्बत गया था और इसका संबंध लिच्छवि राजपरिवार से था। इस श्रृंखला में 33वां शासक रोंत सैन गैंपो था, जिसका शासनकाल 617-649 ई. था। इसी काल से भारत तिब्बत सांस्कृतिक संबंधों के ऐतिहासिक साक्ष्य मिलने शुरू होते हैं। प्रसिद्ध संस्कृत, तिब्बती और जर्मन भाषा की विदुषी और कलकत्ता विश्वविद्यालय में रीडर डॉ. रत्ना बसु ने भारतीय अनुवाद परिषद द्वारा 20 मई 1996 को हेली रोड स्थित बंग भवन के सभागार में आयोजित डॉ. प्रभाकर माचवे स्मृति व्याख्यान में यह बात कही। वह 'संस्कृत साहित्य के तिब्बती भाषा में अनुवाद की परंपरा और प्रक्रिया' विषय पर अपना व्याख्यान दे रही थीं।

डॉ. बसु ने बताया कि रों सैन गैंपो के काल में ही तिब्बती वर्णमाला या तिब्बती लिपि का चलन शुरू हुआ। भारत के साथ धार्मिक और सांस्कृतिक संबंधों की शुरुआत इसी काल में हुई। राजा ने अपने मंत्री और *अन्य सात सहयोगियों को भारतीय भाषा और* धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भारत भेजा। तिब्बत से भारत की इस कठिन यात्रा में मंत्री की मीं सैम भोटा के सभी सात सहयोगियों की रास्ते में खराब मौसम के कारण मृत्यु

हो गई। उसने भारत में रहकर भाषा, साहित्य और बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। तिब्बत लौटकर उसने उस समय उत्तर भारत में प्रचलित गुप्त ब्राह्मी लिपि के आधार पर तिब्बती लिपि का विकास किया और संस्कृत भाषा तथा उसके व्याकरण, तिब्बती भाषा तथा व्याकरण और बौद्ध धर्म पर पुस्तकें लिखीं। उसके द्वारा लिखित आठ पुस्तकों में आज दो पुस्तकें ही प्राप्त हैं, जो तिब्बती भाषा और व्याकरण पर लिखी गई हैं।

कार्यक्रम का आरंभ दिल्ली स्थित तिब्बती केंद्र के लामा तेनजिंग शेरपा द्वारा द्वीप प्रज्ज्वलन के साथ हुआ। उन्होंने अपने वक्तव्य में अनुवाद की शुद्धता और मूल के प्रति निष्ठा पर बल दिया। भारतीय अनुवाद परिषद के अध्यक्ष प्रो. सत्यभूषण वर्मा ने आमंत्रित अतिथियों का स्वागत किया। अपने स्वागत भाषण में अनुवाद के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा कि अनुवाद ही एक ऐसा जरिया है जिसके द्वारा हम विभिन्न देशों के साहित्य से परिचित हो सकते हैं। उन्होंने कहा कि आजकल देश की सीमाएं दिन-पर-दिन सिकुड़ती जा रही हैं, फिर भी हम अपने पड़ोसी देशों के साहित्य तक से परिचित नहीं हैं। उन्होंने ज्यादा से ज्यादा अनुवाद करने पर बल दिया।

परिषद की संस्थापिका डॉ. गार्गी गुप्त ने परिषद की योजनाओं की जानकारी देते हुए बताया कि अनुवाद परिषद् की गतिविधियों में एक नया आयाम है, अनुवादक महोत्सव। यह कार्यक्रम वस्तुतः तीन परिकल्पनाओं का एकीकृत रूप है। पिछले कई वर्षों से परिषद की उत्कट अभिलाषा थी कि परिषद के स्थापना दिवस को प्रतिवर्ष एक उत्सव के रूप में मनाया जाए। परिषद प्रतिवर्ष राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया करती थी, परंतु कुछ वर्ष से इसमें गतिरोध आ गया था। मुख्य रूप से अर्थाभाव के कारण। इस वर्ष परिषद ने एक संकल्प लिया कि इस वर्ष हम एक राष्ट्रीय स्तर की संगोष्ठी अवश्य करेंगे। अपना हाथ जगन्नाथ। संगोष्ठी की योजना बनने लगी।

अभी तक भारत में अनुवादकों का अखिल भारतीय स्तर पर कोई ऐसा दिवस नहीं था जब सभी भाषाओं एवं आयुवर्ग के अनुवादक रू-ब-रू होकर अपनी उपलब्धियों एवं समस्याओं का आदान-प्रदान कर सकें। इस दिशा में परिषद काफी दिनों से यह अनुभव कर रही थी कि परिषद के स्थापना दिवस को ही अनुवादक दिवस घोषित कर दिया जाए और हर वर्ष किसी महत्त्वपूर्ण अनुवादक की स्मृति में अनुवादक मोहत्सव का आयोजन किया जाए।

परिषद ने तय किया कि इस दिन किसी विशिष्ट अनुवादक की स्मृति में अनुवाद के तुलनात्मक अध्ययन से संबंधित किसी विषय पर एक व्याख्यान का आयोजन किया जाए, अनूदित एवं अनुवाद कला संबंधी पुस्तकों की प्रदर्शनी लगायी जाए और अनुवादकों को मिलने-जुलने का पर्याप्त अवसर दिया जाए। डॉ. प्रभाकर माचवे बहुभाषाविद होने के अतिरिक्त एक समर्पित रचनाकार भी थे। साहित्य की शायद ही कोई ऐसी विधा हो जिस

पर उनकी लेखनी न चली हो। उन्होंने कई कृतियों के अनुवाद भी किए हैं। मूलतः मराठी भाषी होते हुए भी उन्होंने मराठी और अंग्रेजी के अतिरिक्त हिंदी में भी कई पुस्तकों का अनुवाद किया। डॉ. प्रभाकर माचवे अनुवाद परिषद के अध्यक्ष भी रहे। इसलिए परिषद ने निश्चय किया कि प्रथम अनुवादक महोत्सव को परिषद डॉ. प्रभाकर माचवे स्मृति व्याख्यान से ही प्रारंभ करेगी।

इंदौर से आई प्रो. बी. वै. ललिताम्बा ने परिषद के इस आयोजन को एक महत्त्वपूर्ण कदम बताते हुए कहा कि अनुवाद के माध्यम से ही हम विश्व की प्रजा को एक परिवार के रूप में गूंथ सकते हैं।

कार्यक्रम के विशिष्ट अतिथि, तिब्बती और संस्कृत भाषा के विद्वान तथा बहुभाषाविद् प्रो. लोकेश चंद्र ने अपने उद्‌बोधन भाषण में इस बात पर दुख प्रकट किया कि आजादी के इतने वर्षों बाद भी हिंदी को उसका उचित स्थान नहीं मिल सका है। आज हिंदी मंत्रियों के भाषण की भाषा बनकर रह गई है, जबकि यह विचारकों की भाषा होनी चाहिए थी। उन्होंने संस्कृत भाषा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा कि एशिया का ऐसा कोई भी देश नहीं, जिसने संस्कृत ग्रंथों का अपनी भाषा में अनुवाद न करवाया हो। उन्होंने कहा कि आज चीन तथा अन्य देशों के लोग संस्कृत सीखने भारत नहीं आते, बल्कि जर्मनी और जापान जाते हैं। जापान का क्योतो शहर आज संस्कृत दर्शन का सबसे बड़ा केंद्र है।

कार्यक्रम के अध्यक्ष दिल्ली स्थित इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र के श्री सतकडि मुखोपाध्याय ने अन्य भाषाओं से संस्कृत में किए गए अनुवादों पर प्रकाश डाला। उन्होंने यह भी कहा कि आज अनुवाद की जो अवधारणा है अर्थात् एक भाषा में लिखी हुई सामग्री को आक्षरिक रूप से दूसरी भाषा में उतारना। संभव है कि प्राचीन समय में यह अवधारणा नहीं रही होगी। संस्कृत भाषी या संस्कृत लेखकों को जिन अन्य भाषाओं से सबसे घनिष्ठ परिचय था वे थीं प्राकृत भाषाएं। संस्कृत लेखक प्राकृत पदों का ध्वनि परिवर्तन कर एक प्रकार से संस्कृत पाठ का निमार्ण करते थे, जैसे कि "अज्जउत्त, इयम्हि—संस्कृत में 'आर्य पुत्रो! इयमस्मि।' इस संस्कृत रूपांतर को छाया कहते हैं।

इस अवसर पर देश-विदेश तथा भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं व विदेशी भाषाओं के विद्वान अनुवादक उपस्थित थे। कार्यक्रम का संचालन परिषद के उपाध्यक्ष डॉ. विमलेश कांति वर्मा ने किया। □

संपर्क सूत्र

डॉ. वेदज्ञ आर्य
द्वारा श्री एम.पी. केदार
40, सिविल लाइन्स, रुड़की, उत्तर प्रदेश-247667

विजय राघव राव
4ए/45 रामशरण, शींव (पश्चिम), मुंबई-400022

गोपाल चतुर्वेदी
डी-II-298, विनय मार्ग चाणक्य पुरी, नयी दिल्ली-110021

उमेश अग्निहोत्री
वायस ऑफ अमेरिका, हिंदी सेवा, वाशिंगटन डी.सी. (संयुक्त राज्य अमेरिका)

सुदीप
सुन्दर नगर, मालाड (पश्चिम) मुंबई-400064

मनोज दास
श्री अरविंद इंटरनेशनल सेंटर ऑफ एजुकेशन, पांडिचेरी

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र
एन.टी.पी.सी. 62, नेहरु प्लेस, नयी दिल्ली-110019

पी. सत्यवती
द्वारा जी. उषा लावण्या, डी.डी.एच.पी. सभा खैरताबाद, हैदराबाद-500004

डॉ. जी. उषा लावण्या
डी.डी.एच.पी. सभा खैरताबाद, हैदराबाद-500004

श्यामल गंगोपाध्याय
79/देश प्राण, सासमल रोड, फ्लैट नं. 14 कलकत्ता-700033

डॉ. रणजीत साहा
एम जी-1/26 विकास पुरी, नयी दिल्ली-110018

रामदरश मिश्र
आर-38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नयी दिल्ली-110059

गंगा प्रसाद विमल
बी-201, कर्जन रोड अपार्टमेंट्स, कस्तूरबा गांधी मार्ग, नयी दिल्ली-110001

रमानाथ अवस्थी
सी 4-सी 14/11 जनकपुरी, नयी दिल्ली-110056

कुसुम अंसल
एन-148 पंचशील पार्क, नयी दिल्ली-110017

नासिरा शर्मा
108, उत्तरा खंड, न्यू कैंपस, जवाहरलाल नेहरु यूनिवर्सिटी, नयी दिल्ली-110057

सत्येन्द्र श्रीवास्तव
फ्लैट नं. 25, 8 न्यूटन स्ट्रीट, लंदन डब्लयू सी 2

सुनीता जैन
आई.आई.टी., हौज खास, नयी दिल्ली-110016

प्रताप सहगल
एफ-101, राजौरी गार्डन, नयी दिल्ली

अश्वघोष
ए-167, नेहरु कालोनी (धर्मपुर) देहरादून-248001 (उ.प्र.)

मनोहर वंद्योपाध्याय
203, सैक्टर-37, फरीदाबाद-121003 (हरियाणा)

प्रो. फूलचंद मानव
एच.आई.जी. 837 फेज-II, मोहाली-160055

बी.डी. कालया 'हमदम'
3912, सैक्टर 22 डी, चंडीगढ़-160022

शिवप्रसाद समादद्दार
के-1997, चितरंजन पार्क, नयी दिल्ली-110019

सुनीता शर्मा
सी 7/230, सैक्टर-7, रोहिणी, नयी दिल्ली-110085

हरिप्रकाश त्यागी
फ्लैट नं. 195, पॉकेट डी, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110095

शकुन्तला गुप्ता
84 बी, मोहलै नगर, अल्लापुर, इलाहाबाद

प्रेम जनमेजय
73, साक्षर अपार्टमेंट्स, ए-3 पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-110063

डॉ. विवेकी राय
विवेकी राय मार्ग, बड़ी बाग, गाजीपुर

राधेश्याम तिवारी
5024/1 गली नं. 1 बलबीर नगर, शाहदरा, दिल्ली-110032

डॉ. कमलप्रकाश अग्रवाल
श्री धाम, 47, हुसैनी बाजार, चंदौसी

लालित्य ललित
बी-3/43, शकुन्तला भवन, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-110063

डॉ. गार्गी गुप्त
24 स्कूल लेन, बंगाली मार्केट, नयी दिल्ली-110001

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक/संपादक	मूल्य (रु.)
इंडियाज मौलाना : अबुल कलाम आजाद (भाग-1) अंग्रेजी (ट्रिब्यूट एण्ड अप्रैजल्स)	*सैयदा सैयदैन हमीद*	300
इंडियाज मौलाना : अबुल कलाम आजाद (भाग-2) अंग्रेजी (चुनिन्दा भाषण व लेख)	*सैयदा सैयदैन हमीद*	300
इमाम-उल-हिंद (भाग-3) हिंदी (भाषण व लेख, भाग-3 का देवनागरी संस्करण)	*सैयदा सैयदैन हमीद* *प्रो. मुजीब रिजवी*	300
इमाम-उल-हिंद (भाग-4) उर्दू (भाषण व लेख भाग-2 का उर्दू संस्करण)	*सैयदा सैयदैन हमीद* *डॉ. (श्रीमती) सुधा मेहदी*	300
साइंस, सोशिबलिज्म एण्ड ह्यूनिज्म	*अरुणा आसफ अली*	35
इंडियन पोइट्री टुडे भाग-3, पुनर्मुद्रण)	*केशव मलिक*	60
पोइट्री फेस्टिवल इंडिया	*श्रीकांत वर्मा*	80
इंडिया एण्ड वर्ल्ड लिटरेचर	अभय मौर्यारु	225
कंटम्परेरी रिलिवेन्स ऑफ सूफिज्म	*एस.एस. हमीद*	600
द डिवाइन पिकॉक	*के. सच्चिदानन्द मूर्ति*	250
हैन्डिक्राफ्ट्स ऑफ इंडिया (पुनर्मुद्रण)	*कमलादेवी चट्टोपाध्याय*	1000
इंडियन म्यूजिक	*बी.सी. देवा*	200
माइटियर देन मैचट	*हरीश नारंग*	350
महात्मा गांधी : 125 वर्ष	*बी. आर. नंदा*	600
नामीबिया-इंडिया-फाइव डिकेड्स ऑफ सोलिडैरिटी	*टी.जी. रामामूर्ति*	500
ली महात्मा गांधी : एनीस (फ्रेंच)	*शांता रामाकृष्णा एवं अमित दासगुप्ता*	800
ग्लिम्सेज ऑफ संस्कृत लिटरेचर	*ए.एन.डी. हक्सर*	400
सत्य की खोज	*डॉ. आदोलेन स्मेकल*	600
द पैरेलियल ट्री	*के. सच्चिदानन्द मूर्ति*	700
डायरेक्ट्री ऑफ कल्चरल ऑर्गनाजेशन	के.सी. दत्त	1250

उपरोक्त अंशदान दरें **भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, नई दिल्ली** के नाम पर बैंक ड्राफ्ट/मनीऑर्डर के द्वारा अग्रिम रूप में देय हैं।

पुस्तकालयों/संस्थाओं को रियायत 10%
ट्रेड रियायत 25%